नई दिल्ली
रविवार, 09 अगस्त, 2026, मूल्य-15.00
राष्ट्रीय
वर्ष-8 अंक-42 पृष्ठ- 8
RNI: DELHIN / 2018 / 76679
Postal Reg. No. DL(C)-05/1425/2025-27
License To Post Without Pre Payment No. U(C)-164/2025-27
Magazine Post Reg. No. DL(DS)-31/MP/25-26-27

संडे नवजीवन

Freedom is in Peril. Defend it with all your might — Jawaharlal Nehru

इसे सिर्फ़ पेपर लीक के ख़िलाफ़ प्रदर्शन मानना ग़लत, मुद्दा रोज़गार के अकाल का भी है 3
गोमती को बचाने की कब होगी शुरुआत? 5

अब ताज भी नहीं सुरक्षित 3

www.navjivanindia.com | @navjivanindia | www.nationalheraldindia.com | www.qaumiawaz.com

'मोदी परिवार' में नई पीढ़ी की बगावत

जयदीप हार्दीकर

जेन-ज़ी के जंतर-मंतर के विरोध प्रदर्शन में तमाम तस्वीरें ध्यान खींचने वाली थीं। ऐसी ही थी मास्क लगाए प्रदर्शनकारियों की तस्वीरें। इनकी तादाद अच्छी-खासी थी। लेकिन उन्होंने मास्क क्यों पहन रखा था? क्या वे पुलिस से बचने के लिए ऐसा कर रहे थे? नहीं, वे अपने ही परिवारों से छिप रहे थे। यह बात 20 जुलाई के मार्च के बाद खास तौर पर खुलकर सामने आई, जब उन पर पुलिस और सरकार द्वारा उतारे गए मिलिशिया द्वारा कीलों वाली लाठियों, शॉक बैटन, आंसू गैस और पेलेट गन से हमला किया गया।

बिहार के एक 21 वर्षीय छात्र ने बताया कि उसने माता-पिता को प्रदर्शन में शामिल होने की जानकारी नहीं दी थी क्योंकि वे कट्टर भाजपा समर्थक हैं, लेकिन उसे आना पड़ा क्योंकि उसके साथी उसी के हक की लड़ाई लड़ रहे थे। एक अन्य छात्र ने मास्क इसलिए पहना था क्योंकि उसे 'टेलीविजन या सोशल मीडिया पर पहचान लिए जाने का डर था।' तीसरे छात्र ने तो साफ कहा कि उसके माता-पिता के राजनीतिक झुकाव की वजह से ही उसे सड़कों पर उतरने को मजबूर होना पड़ा। ऐसे ढेरों उदाहरण हैं। जाहिर है, बड़ी तादाद ऐसे प्रदर्शनकारियों की थी जिनका पहला टकराव शासन-सत्ता से नहीं, अपने मां-बाप से था।

हाल ही में एक साक्षात्कार में ऑल इंडिया स्टूडेंट्स एसोसिएशन (आइसा) की राष्ट्रीय अध्यक्ष नेहा बोरा ने 'मोजो स्टोरी' के लिए बरखा दत्त से बातचीत में बताया कि उनकी राजनीति उनके माता-पिता के विचारों से बिल्कुल उलट है- वह वामपंथी हैं, जबकि माता-पिता दक्षिणपंथी। उनके लिए भी पहला राजनीतिक टकराव घर के भीतर ही हुआ।

बगावत के ऐसे ही स्वर देश के अन्य हिस्सों में भी सुने गए। इस तरह की गूंज उन कोनों से भी आईं, जिसके बारे में सोचना भी मुश्किल था। इसी आंदोलन की वजह से इस्तीफा देने वाले केन्द्रीय शिक्षा मंत्री धर्मेंद्र प्रधान की बेटी ने जेन-ज़ी आंदोलन का खुलकर समर्थन करके अपने माता-पिता को असमंजस में डाल दिया। उन्होंने मीडिया साक्षात्कारों में सार्वजनिक रूप से अपने माता-पिता की राजनीति से अलग राह पर चलने की घोषणा की।

भाजपा की पूर्व छात्र नेता उमंग गुप्ता ने कहा कि उनका परिवार भी मोदी समर्थकों का रहा है और उन्होंने अपने माता-पिता की इच्छा के खिलाफ जाकर इस प्रदर्शन में हिस्सा लिया। उन्होंने बताया कि उनकी तरह कई युवाओं ने प्रदर्शन का हिस्सा बनने के लिए अपने परिवारों से विद्रोह किया है। उन्होंने एक टीवी इंटरव्यू में कहा, 'उन्हें पीटा जा रहा है, उन्हें आतंकवादी कहा जा रहा है।'

लगभग दो हफ्तों से जेन-ज़ी प्रदर्शनों से जुड़ी अधिकांश चर्चाएं नारेबाजी, मीम्स और मोदी सरकार को इससे हुए संभावित नुकसान पर केन्द्रित रही हैं। लेकिन शायद इससे भी अधिक दिलचस्प कहानी घरों के भीतर, रात के खाने की मेजों पर, पारिवारिक वाट्सएप ग्रुपों में और दक्षिणपंथी इकोसिस्टम के उस व्यापक सामाजिक दायरे में आकार ले रही है जिसने पिछले एक दशक के दौरान भाजपा के राजनीतिक उफान को हवा दी, जन-संदेशों पर उसकी पकड़ बनाए रखने में मदद की।

भाजपा के सामाजिक गठबंधन-परिवारों, मोहल्लों, आरएसएस शाखाओं, वाट्सएप ग्रुपों, मंदिरों, व्यावसायिक नेटवर्क और पूर्व छात्र मंडलों- के भीतर दो पीढ़ियों के बीच दरार के शुरुआती संकेत अब साफ दिखाई दे रहे हैं। वर्षों तक राजनीतिक विचारधारा का प्रवाह माता-पिता से बच्चों की ओर होता था, लेकिन जेन-ज़ी के इस विरोध प्रदर्शन ने उस पुरानी धारणा की मियाद खत्म कर दी है।

बगावत की इन निजी घटनाओं को या इस उभरते रुझान को भाजपा के अंत की शुरुआत या इसके संकेत के तौर पर नहीं देखा जाना चाहिए। राजनीतिक पार्टियां संकटों और अंदरूनी मतभेदों के दौर से उबरने के लिए जानी जाती हैं। लेकिन इसमें संदेह नहीं कि सामाजिक एकजुटता के उस मजबूत कवच में दरार जरूर आ गई है- क्योंकि अब समझदार युवा अपने घर के बुजुर्गों से सीख लेने के बजाय उस डिजिटल दुनिया से निर्देशित हो रहे हैं जो उन्हें अपने इंटरनेट परिवार जैसी महसूस होती है।

भाजपा के भीतर भी अंदरूनी सुगबुगाहट शुरू हो गई है। हालांकि कुछ सांसदों ने सार्वजनिक रूप से यह स्वीकार करने का साहस दिखाया है कि 'इस अव्यवस्था को टाला जा सकता था', लेकिन वे अनौपचारिक बातचीत में इससे कहीं ज्यादा बोल रहे हैं। कई मानते हैं कि छात्रों को जवाब देने में हुई देरी ने सरकार की छवि को नुकसान पहुंचाया है, लेकिन वे चुनावी परिणामों पर इसके किसी दीर्घकालिक प्रभाव को लेकर बेफिक्र होने का नाटक भी करते हैं। संसद के भीतर और बाहर, राजनाथ सिंह और नितिन गडकरी जैसे पार्टी के वरिष्ठ नेताओं ने चुप्पी साध रखी है और गृह मंत्री अमित शाह के समर्थन में खुलकर सामने नहीं आए, जो बर्बर पुलिस कार्रवाई के कारण विपक्ष के सीधे निशाने पर रहे हैं।

*

पीढ़ियों के बीच की यह कहानी केवल अलगाव की नहीं। उदाहरण के लिए, मुंबई में कई माता-पिता अपने बच्चों के साथ कदम से कदम मिलाकर इस आंदोलन के समर्थन में सड़कों पर उतरे। विभिन्न परिवारों ने एक ही राजनीतिक घटनाक्रम पर अलग-अलग तरह से प्रतिक्रिया दी है; इसलिए किसी नतीजे पर पहुंचना जल्दबाजी होगी। कुछ युवाओं के अपने माता-पिता से बहस करने या कुछ समर्थकों द्वारा असहजता जताने मात्र से राजनीतिक दल बिखरा नहीं करते। न ही ये बिखरे हुए उदाहरण किसी व्यापक वैचारिक बदलाव का अंतिम सबूत हैं।

फिर भी, ये झलकियां विशेष ध्यान देने योग्य हैं क्योंकि ये उन जगहों से उभरकर आ रही हैं जिन्हें राजनीतिक रिपोर्टिंग अक्सर नजरअंदाज कर देती है और हमारी मुख्यधारा की मीडिया निश्चित रूप से दबा देती है। चुनाव हमें यह बताते हैं कि लोग कैसे वोट देते हैं और प्रदर्शन हमें यह बताते हैं कि कौन लोगों को एकजुट कर रहा है। लेकिन परिवार हमें यह बताते हैं कि राजनीतिक विश्वास पीढ़ियों के बीच कैसे आगे बढ़ते हैं, कैसे बचाए जाते हैं, कैसे उन्हें चुनौती दी जाती है और कैसे उन पर पुनर्विचार होता है।

पिछले एक दशक के दौरान भाजपा ने उस असाधारण सामाजिक समर्थन का आनंद उठाया जो केवल पार्टी की सदस्यता तक सीमित नहीं था। समाज पर उसकी पकड़, विशेष रूप से 'हिन्दी पट्टी' में, रेसिडेंट वेलफेयर एसोसिएशंस, मोहल्ला समूहों, हिन्दू धार्मिक नेटवर्कों, पेशेवर संगठनों और पारिवारिक इकाइयों के माध्यम से बनी रही।

सरकार पर आश्रित और समर्पित मीडिया द्वारा गढ़े गए नैरेटिव ने पार्टी की अजेय छवि को पेश करने में खास भूमिका निभाई। प्रदर्शन स्थलों से भगाए जाने और आलोचना झेलने के बाद भी बड़ा मीडिया लगातार सरकार के आलोचकों को ही घेरने में व्यस्त है। टीवी एंकर्स यह पूछने के बजाय कि प्रदर्शनकारियों पर पैलेट गन चलाने का आदेश किसने दिया, अभिजीत दिपके और सौरभ दास जैसे प्रदर्शनकारियों को ही नीचा दिखाने में लगे हैं।

हालांकि राहत की बात यह है कि स्मार्टफोन के दौर से आगे की इस युवा पीढ़ी की राजनीतिक आवाज अब जाति, वर्ग, धर्म और पुरानी राजनीतिक सीमाओं से परे उठ रही है। यह तकनीकी रूप से सहबद्ध युवाओं की ऐसी जमात है जिसे समाजशास्त्री अब 'डिजिटल पब्लिक' कहने लगे हैं। विभिन्न प्लेटफॉर्मों पर पली-बढ़ी यह पीढ़ी शिक्षा, रोजगार और अपनी पहचान से जुड़ी वास्तविक चिंताओं में साझा जमीन तलाश रही है। यह उनके माता-पिता या दादा-दादी से अलग है, जिन्होंने मौजूदा सरकार को शायद इसलिए खुली छूट दे रखी थी क्योंकि उसने उन्हें नफरत करने के लिए एक काल्पनिक दुश्मन दे दिया था।

इस समय यह भविष्यवाणी करना मुश्किल है कि भाजपा के अपने मजबूत गढ़ों में मिले इस पहले वास्तविक सामाजिक प्रतिरोध का भविष्य क्या होगा। क्या ये युवा प्रदर्शनकारी और विपक्ष में उनके समर्थक अन्य पीड़ित वर्गों-जैसे असंतुष्ट किसानों, औद्योगिक मजदूरों और विस्थापित आदिवासियों- के साथ मिलकर कोई बड़ा सामाजिक ताना-बाना बुन पाएंगे? क्या सड़क का विपक्ष संसद के भीतर के विपक्ष के साथ तालमेल बिठा पाएगा? हम नहीं जानते। लेकिन याद रखें, राजनीतिक बदलाव जब आता है, तो वह ढोल-नगाड़ों के साथ नहीं आता। वह अक्सर खामोशी से शुरू होता है-जब अटूट विश्वास की जगह संशय की चादर पसर जाए, जब रटे-रटाए जवाबों पर सवाल उठने लगें और जब परिवारों को यह अहसास हो कि जिस राजनीतिक सहमति को वे कभी अंतिम मानते थे, वह अब दरक चुकी है। ■

फोटो: गेटी इमेजेज

जंतर-मंतर और दूसरी जगहों पर मौजूद कई युवा प्रदर्शनकारियों के लिए, मास्क का इस्तेमाल निगरानी तंत्र से ज्यादा अपने ही परिवारों से छिपने के लिए था

> दिलचस्प है कि बगावत घरों के भीतर, पारिवारिक वाट्सएप ग्रुपों में और दक्षिणपंथी इकोसिस्टम के उस व्यापक सामाजिक दायरे में आकार ले रही है जिसने पिछले 10-12 सालों में भाजपा के राजनीतिक उफान को हवा दी

जयदीप हार्दीकर वरिष्ठ पत्रकार और लेखक हैं

जंतर-मंतर आंदोलन का असर दूर-दूर तक

ऐप-नेटिव पीढ़ी पूरे देश में एकजुटता के नए आयाम तय कर रही है

नंदलाल शर्मा

उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ से लगभग 120 किलोमीटर दूर फतेहपुर जिले के किशनपुर कस्बे में सर्वोदय इंटर कॉलेज के छात्रों का विरोध-प्रदर्शन स्वतःस्फूर्त था। वहां 28 जुलाई को छात्रों ने स्वच्छ पेयजल, इस्तेमाल लायक शौचालय और कक्षाओं में मेज-कुर्सी, पंखे जैसी बुनियादी सुविधाओं की कमी के विरोध में धरना दिया। चंद घंटों में ही उनके विरोध-प्रदर्शन का एक वीडियो सोशल मीडिया पर वायरल हो गया, जिसने देश में शिक्षा की बदहाली को लेकर सरकार की बेरुखी पर पहले से ही भड़की आग में थोड़ा और घी डालने का काम किया।

इस विरोध-प्रदर्शन का समय बहुत अहम था। चंद रोज पहले ही दिल्ली के जंतर-मंतर पर प्रदर्शनकारी छात्रों और युवाओं ने केन्द्रीय शिक्षा मंत्री को इस्तीफा देने पर मजबूर कर दिया था। उनके आंदोलन की गूंज पूरे देश ही नहीं, दुनिया ने सुनी थी। यूपी के स्कूली छात्रों की शिकायतें बिल्कुल वैसी भले न रही हों, लेकिन यहां भी जिम्मेदारों को जिस तरह जवाबदेह ठहराने का दबाव बना, मूल भावना जंतर-मंतर जैसी ही दिखाई दी।

विरोध-प्रदर्शन के दौरान दिया गया 12वीं कक्षा के जिस छात्र अंकुर सोनकर का भाषण वायरल हुआ और खूब देखा गया, वह एक खेतिहर मजदूर का बेटा है। स्थानीय सामाजिक कार्यकर्ता कलीमुल्लाह कहते हैं कि जंतर-मंतर आंदोलन का यहां के युवाओं और छात्रों पर भी साफ असर पड़ा, "कई किशोर तो जंतर-मंतर गए भी थे।" अंकुर भी उनमें से एक था।

देशव्यापी विरोध प्रदर्शनों का असर फतेहपुर स्कूल प्रशासन पर भी पड़ना ही था। उसने तत्काल छात्रों की मांगें मान लीं: पंखे और पीने के पानी के डिस्पेंसर लग गए; छात्रों पर थोपा गया जुर्माना वापस ले लिया गया; और भरोसा दिलाया गया कि बाकी मुद्दों पर भी प्रशासन गौर करेगा। यह नतीजा देखने में भले छोटा लगे, इसकी अहमियत इस रूप में बड़ी है कि यहां भी लापरवाह प्रशासन को छात्रों की मांगों के आगे झुकना पड़ा। आपस में जुड़ी, सोशल मीडिया ऐप्स का इस्तेमाल करने वाली पीढ़ी की ताकत एक बार फिर दिखी, जिसने बताया कि छोटे शहर से होने का मतलब यह नहीं कि वे बाकी देश-दुनिया की हलचल से कटे हुए हैं।

जल्द ही बिहार (गया जिले का सिमौरा मिडिल स्कूल), छत्तीसगढ़ (कोरबा का एकलव्य मॉडल रेजिडेंशियल स्कूल), महाराष्ट्र (पालघर, बीड, धाराशिव) और राजस्थान से भी छात्रों के ऐसे ही विरोध प्रदर्शनों की खबरें आने लगीं। राजस्थान के जालौर जिले के मेंगलवा स्थित पीएमश्री गवर्नमेंट सीनियर सेकेंडरी स्कूल में, छात्रों ने नियमित शिक्षकों की नियुक्ति के लिए स्कूल के गेट घंटों बंद रखे और मुख्य बाजार में सड़क पर धरना दिया। बाड़मेर और बारां में भी ऐसे ही प्रदर्शन हुए। एक ही समय अलग-अलग स्थानों पर इन विरोध प्रदर्शनों का होना महज इत्तेफ़ाक नहीं। अन्य सोशल मीडिया ऐप्स के मुक़ाबले इंस्टाग्रैम ने युवाओं को ज्यादा मजबूती से जोड़ने का काम किया है, और मानना होगा कि देश में एक बार फिर से, एक गांव वाली एकजुटता की भावना का प्रदर्शन दिख रहा है। दिल्ली, पटना या कोलकाता की किसी भी ऐसी हलचल की अनुगूंज तत्काल फतेहपुर, बीड, बारां और बाड़मेर में सुनी जा रही है। बेबाक युवा परस्पर समर्थन और प्रेरणा से अधिकारियों से न सिर्फ सवाल पूछ रहे हैं, बल्कि जवाबदेही मांग रहे हैं।

हरियाणा के कोने-कोने से आए मिड-डे मील कार्यकर्ताओं ने 4 अगस्त को कुरुक्षेत्र में मुख्यमंत्री के कैम्प कार्यालय के बाहर एक 'महापड़ाव' (बड़ा धरना) किया। वे पक्की नौकरी और न्यूनतम 30,000 रुपये मासिक वेतन की मांग कर रहे थे। उन्होंने 10 अगस्त को राज्य के सभी जिलों में 'जेल भरो सत्याग्रह' और फिर 6 अक्तूबर को 'संसद मार्च' का भी फैसला किया है। देशव्यापी 'जेल भरो' आंदोलन का आह्वान ट्रेड यूनियनों और संयुक्त किसान मोर्चा ने भी किया है। सीटू हरियाणा के महासचिव जयभगवान के अनुसार, गिरफ्तारी देने से पहले कार्यकर्ता और किसान जिला मुख्यालयों पर संयुक्त जनसभाएं भी करेंगे।

उधर, ओडिशा में भी छात्र राज्य के शिक्षा मंत्री के इस्तीफे की मांग कर रहे हैं। झारखंड में वे झारखंड लोकसेवा आयोग और झारखंड कर्मचारी चयन आयोग जैसी भर्ती करने वाली संस्थाओं से ज्यादा जवाबदेही की मांग के लिए आंदोलन कर रहे हैं। इस बीच, दिल्ली यूनिवर्सिटी के छात्रों ने परिसर के भगवाकरण के विरोध में और छात्रों को जंतर-मंतर पर होने वाले विरोध प्रदर्शनों में शामिल होने से रोकने के कथित आदेश के लिए वाइस-चांसलर से माफी की मांग को लेकर हफ्ते भर भूख हड़ताल की, और यूनिवर्सिटी प्रशासन को झुकना पड़ा।

*

जवाबदेही की मांग शिक्षा के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है- किसान, तरह-तरह की 'विकास' परियोजनाओं के कारण विस्थापित आदिवासी और अन्य समुदाय, आशा वर्कर, औद्योगिक मजदूर, विभिन्न गैर सरकारी संगठन आदि भी अचानक ज्यादा मुखर होकर विरोध पर उतर आए हैं।

मध्य प्रदेश के छतरपुर जिले में केन-बेतवा नदी जोड़ो परियोजना के विरोध में सामाजिक कार्यकर्ता अमित भटनागर की अगुवाई में आदिवासियों की रैली हुई। सामूहिक भूख हड़ताल और 'चिता आंदोलन' के अठारह दिन बाद, राज्य सरकार ने उन्हें विस्थापित परिवारों का नया सर्वे करने और पुनर्वास से जुड़ी शिकायतों की समीक्षा का आश्वासन दिया।

केन-बेतवा विरोध प्रदर्शन के नेताओं ने दूर-दराज के आंदोलनों के साथ भी अपनी एकजुटता जताई है। नेशनल यूथ ऑर्गनाइजेशन के शिवकांत त्रिपाठी बताते हैं कि दिल्ली विरोध प्रदर्शनों के दौरान 'कॉकरोच जनता पार्टी' के सदस्यों ने उनसे समर्थन मांगा था। उन्होंने कहा कि मध्य प्रदेश सरकार अपने वादों से मुकरती है, तो केन-बेतवा आंदोलन भी राष्ट्रीय स्तर पर समर्थन मांगेगा।

> छोटे शहर से होने का मतलब अब यह नहीं है कि आप राष्ट्रीय मुद्दों पर होने वाली बड़ी चर्चाओं से कटे हुए हैं

उत्तर प्रदेश के फतेहपुर में बुनियादी स्कूली सुविधाओं के लिए 'जेन अल्फा' का विरोध प्रदर्शन

शेष पेज 2 पर ▸

“समंदर पर भरोसा कर सकता हूं, मिसाइलों पर नहीं”

गुजरात के सलाया से आए हाथ से बने दो जहाजों के डूबने का असर नाविकों और उनके परिवारों की ज़िंदगी पर भी पड़ा है

मरहबा हिलाली

अब्बा झूठ बोलते थे कि जो समंदर पर रहते हैं, उन्हें मौत का डर नहीं होता। उन्होंने यह बात तब कही थी जब मैंने 17 साल की उम्र में नाविक के तौर पर अपनी पहली नौकरी शुरू की थी, नज़ीर जुनस भाया (43 साल) अपने हाथों को देखते हुए कहते हैं। ये वही हाथ हैं जिन्होंने ओमान की खाड़ी में डूबने से पहले छह महीने तक एमएसवी अल फ़ैज़ नूर-ए-सुलेमानी जहाज चलाया था। उन्हें वह भयानक पल याद है जब होर्मुज़ जलडमरूमध्य पार करते समय जहाज से एक मिलाइल टकराई थी।

वह फिर दोहराते हैं, “अब्बा झूठ बोलते थे। मैं तो जहाज में पानी घुसता देख बुरी तरह डर गया था। यह 8 मई 2026 की आधी रात के बाद का समय था। लग रहा था कि वह मिसाइल हमें मारने के लिए ही आई थीं। ईरान ने हमें होर्मुज़ स्ट्रेट से गुज़रने से नहीं रोका था, इसलिए यह संभावना कम है कि हमला उसी की ओर से हुआ हो। अचानक जोरदार धमाका हुआ था और देखते ही देखते भीषण आग भड़क उठी।” नज़ीर अपने समुदाय की कच्छी सिंधी भाषा के बजाय हिन्दी और गुजराती में बात करते हैं। हम गुजरात के द्वारका जिले के कस्बे सलाया में स्थित उनके एक मंजिला घर में बैठे हैं। यह बंदरगाह के किनारे बसा कस्बा है।

वह आगे कहते हैं, “धमाके के झटके से दो नाविक हवा में उछल गए। उनमें से एक, 40 वर्षीय अल्ताफ़ तलब केर का दाहिना हाथ कट गया और उनकी मौत हो गई। दूसरे नाविक का चेहरा टैंक से टकराया, जिससे वह गंभीर रूप से घायल हो गया। उस दिन जहाज पर हम कुल 18 लोग थे। जहाज में पानी भरने लगा। जहाज डूबने से पहले हमें अपना सामान, यहां तक कि मोबाइल फोन तक उठाने का समय नहीं मिला। हम समुद्र में कूद गए और लोहे की सलाखों से घिरी प्लास्टिक की एक पानी की टंकी को पकड़कर अगले सात घंटे तक किसी तरह तैरते रहे। ठंड से मेरा शरीर सुन्न हो रहा था। ऐसा लग रहा था कि अगर मिसाइल हमें नहीं मारती, तो ओमान की खाड़ी का बर्फ जैसा ठंडा पानी हमारी जान ले लेता।” नज़ीर अपने साठ वर्ष से अधिक उम्र के पिता जुनस भाया के पास बैठे हैं, जिन्होंने लगभग 40 वर्षों तक जहाजों के इंजन कक्ष में काम किया और अब आंशिक रूप से लकवाग्रस्त हैं। सामने बैठीं उनकी मां साबिरा अपने बेटे की जीवित बच निकलने की कहानी फिर से सुन रही हैं। नज़ीर उनसे नजरें मिलाने से बच रहे हैं।

हमले में डूबा तीन वर्ष पुराना यह विशाल लकड़ी का जहाज, जिसकी माल ढोने की क्षमता 3,000 टन थी, सलाया में बने प्रसिद्ध हस्तनिर्मित जहाजों में से एक था। इसे बनाने वालों में आंध्र प्रदेश से आए कुछ प्रवासी कारीगर और बड़ी संख्या में स्थानीय लोग शामिल थे, जिन्हें 'जाम सलाया' कहा जाता है। ये कच्छी मुस्लिम समुदाय के लोग हैं, जिनके पूर्वज लगभग 200 वर्ष पहले कच्छ के मांडवी और मुंद्रा क्षेत्रों से आकर द्वारका में बस गए थे।

इस समुदाय की आजीविका पूरी तरह जहाजरानी उद्योग पर निर्भर है। कस्बे के अधिकांश पुरुष या तो जहाज बनाते हैं या उन पर नाविक के रूप में काम करते हैं, या फिर माल चढ़ाने और उतारने का काम करते हैं। ये जहाज भारत, संयुक्त अरब अमीरात, ओमान, यमन, ईरान, सोमालिया, जिबूती और इरिट्रिया के बीच माल ढोते हैं। जो लोग जहाजों पर काम नहीं करते, वे कच्छ की खाड़ी में घोल (क्रोकर मछली, जिस पर काली चित्तिया होती हैं) और ढोलदारा मछलियां पकड़कर अपना जीवनयापन करते हैं।

सलाया में बने लगभग 200 बड़े मालवाहक जहाज होर्मुज़ स्ट्रेट से होकर गुजरते हैं। नाविक आमतौर पर सितंबर से मई के बीच इन जहाजों पर काम करते हैं। जून से अगस्त के बीच भारतीय अधिकारी अरब सागर में इन जहाजों के संचालन की अनुमति नहीं देते।

नज़ीर कहते हैं, “मेरा 13 महीने का अनुबंध था, लेकिन मैं मई में ही लौट आया। वह मेरी आखिरी यात्रा थी। मैंने अपनी बहनों की शादी और अपने अधूरे घर को बनवाने के लिए साढ़े चार लाख रुपये बचाए थे। लेकिन सबकुछ समुद्र में डूब गया। अब मेरे पास न तो पासपोर्ट है और न ही नाविक पहचान पत्र।”

जहाज का मालिक उन्हें हर महीने 5,000 रुपये वेतन देता है। लेकिन उनकी असली कमाई तब होती है, जब वे शारजाह, यमन और सोमालिया में माल चढ़ाने और उतारने का काम करते हैं। इसके लिए विदेशी व्यापारी उन्हें प्रति टन माल पर 10 दिरहम देते हैं। उनकी कुल आय इस बात पर निर्भर करती है कि कितना काम मिला, माल कितना था, उस समय विनिमय दर क्या थी और जहाज पर मौजूद लोगों के बीच वह रकम कैसे बांटी गई। शिक्षा, बुनियादी सुविधाओं और रोजगार के सीमित अवसरों वाले इस कस्बे में नज़ीर को यही काम सबसे बेहतर विकल्प लगा था।

> घर पर कोई नौकरी नहीं है, लेकिन पश्चिम एशिया में चल रहे युद्ध ने युवा नाविकों को लौटने पर मजबूर कर दिया है

नज़ीर कहते हैं, “मैं पिछले दो महीनों से घर बैठा हूं। मैं इतना डर गया हूं कि जहाज बनाने वाले यार्ड के पास भी नहीं जाना चाहता। पिछले दो-तीन दिनों में मैंने मछली पकड़ने वाली नाव पर काम करने की कोशिश की, लेकिन जून से अगस्त के बीच समुद्र में चक्रवात और तेज तूफानों का खतरा रहता है, इसलिए हमें अनुमति नहीं मिलती।” लेकिन घर पर बैठे रहने से उन्हें अधूरे रह गए कामों, डूब चुकी जमा पूंजी और अनिश्चित भविष्य की चिंता लगातार सताती रहती है।

जहाज के मालिक ने नया पासपोर्ट बनवाने में उनकी कोई मदद करने से इंकार कर दिया। अब नज़ीर को नया पासपोर्ट बनवाने के लिए अपनी जेब से 7,000 से 10,000 रुपये कर्च करने होंगे। बाकी लोगों की तरह उन्हें भी अब तक अपने नुकसान का कोई मुआवजा नहीं मिला है।

जहाज़ मालिकों का कहना है कि दो वर्षों से बीमा कंपनियां युद्ध प्रभावित क्षेत्रों से गुजरने वाले, सलाया में बने जहाजों का बीमा करने से इंकार कर रही हैं। जिन जहाजों का पहले से बीमा था, अगर वे ऐसे इलाकों से गुजरते समय क्षतिग्रस्त हो जाएं, तो उनके लिए भी मुआवजा देने से मना कर दिया जाता है। सलाया के जहाज मालिक सुल्तान अहमद संघार कहते हैं, “जब मेरा जहाज नष्ट हुआ, तब भी सरकार से मुझे कोई मदद नहीं मिली”।

एजाज़ अकबर संघार (30) और जहाज पर मौजूद 14 अन्य लोगों को एक वाट्सएप समूह के माध्यम से पता चला कि चार दिन पहले एमवीएस फ़ैज़ ए सुलेमानी मिसाइल हमले के बाद डूब गया था। लेकिन 13 मई 2026 तक ‘हाजी अली’ पहले ही समुद्र में निकल चुका था। एजाज़ बताते हैं, “रात के तीन बजे थे। हमारी मंजिल अभी पांच घंटे दूर थी, तभी ओमान के तट के पास एक मिसाइल ने हमारे जहाज़ को निशाना बनाया। हमारे मोबाइल में इतना बैलेंस नहीं था कि भारत में जहाज के मालिक को फोन कर पाते, इसलिए हमने सोमालिया के व्यापारी को इसकी सूचना दी। हम सब बुरी तरह डर गए थे।” दो महीने बीत जाने के बाद भी एजाज़ गहरे सदमे में हैं। एजाज़ ने दसवीं कक्षा के बाद पढ़ाई छोड़ दी थी और कस्बे में रोजगार के दूसरे अवसर भी नहीं थे। इसलिए उन्होंने अपने चाचा सुल्तान के जहाज पर काम शुरू किया। अब वे दोबारा जहाज पर काम नहीं करना चाहते।

नज़ीर भी अभी तुरंत वापस समुद्र में नहीं जाना चाहते, चाहे हालात सामान्य ही क्यों न हो जाएं। वह कहते हैं, “अल्लाह ने एक बार मेरी जान बचाकर मुझे दोबारा जीने का मौका दिया है। हो सकता है अगली बार वह मुझे न बचाए। लेकिन मुझे अपना घर पूरा बनाना है और अपनी बहनों की शादी भी करनी है। इसलिए एक दिन मुझे वापस जाना ही पड़ेगा।” अपनी कुछ पुरानी तस्वीरें दिखाते हुए वह कहते हैं कि शायद तीन या चार साल बाद उन्हें फिर से समुद्र में जाना होगा।

उनकी मां साबिरा कहती हैं, ₹यह हमारे पूर्वजों का पेशा है। मेरे भाई, पिता, पति और दादा, सभी ने यही काम किया है। मुझे समुद्र पर भरोसा है और उन जहाजों पर भी, जिन्हें हमारे लोगों ने अपने हाथों से बनाया है। लेकिन मुझे मिसाइलों पर भरोसा नहीं है। मेरा मन नहीं चाहता कि मेरा बेटा फिर समुद्र में जाए। पैसा तो दोबारा कमाया जा सकता है, लेकिन अगर मेरा बेटा ही वापस न आया, तो मैं उसे कहां से लाऊंगी? ■

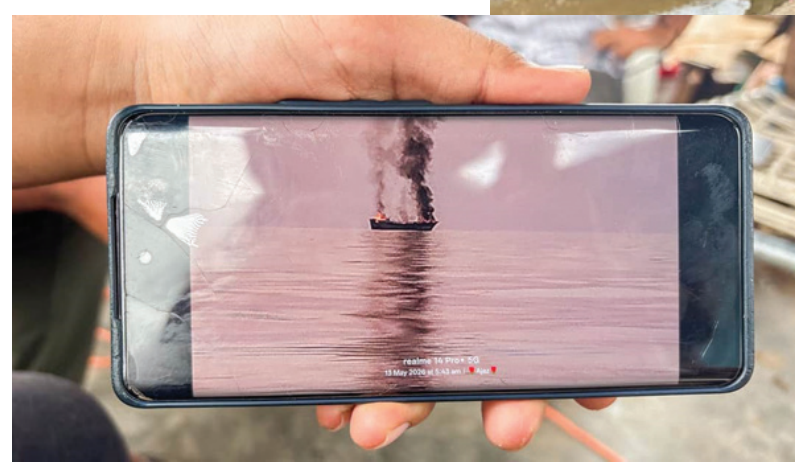

न तो सरकार और न ही इंश्योरेंस कंपनियां सुल्तान अहमद के नुकसान की भरपाई करने को तैयार हैं; (बाएं) आग की लपटों में घिरा हाजी अली, जिसे एजाज़ ने लाइफबोट में कूदने के ठीक बाद अपने कैमरे में कैद किया था

जंतर-मंतर आंदोलन का असर दूर-दूर तक

पेज एक का शेष

चिंताएं अलग-अलग हैं, मांगें अलग-अलग और नेतृत्व भी अलग-अलग, लेकिन एक शिकायत सबमें आम है- ‘ऐसी सरकार जिसे किसी की कोई परवाह नहीं’। पढ़ाई के लिए शिक्षकों और बेहतर बुनियादी सुविधाओं की मांग करने वाले स्कूली छात्र हों, या परीक्षा में पेपर लीक रोकने की मांग करने वाले प्रतियोगी युवा, या बेहतर वेतन-सुरक्षित नौकरी की मांग करने वाले औद्योगिक मजदूर, या फिर कर्ज माफी की मांग करने वाले किसान- इनमें से कोई भी आकाश से तारे तोड़ने की मांग नहीं कर रहा है। उन्हें बस सही अवसर, उचित वेतन और उचित मुआवजे की दरकार है, लेकिन सबसे पहले वे चाहते हैं कि सरकार उनकी बात सुने और उन पर ध्यान दे।

ठीक है कि, ऐसी हर एकजुटता को मुमकिन बनाने में ऑनलाइन प्लेटफॉर्म की अहम भूमिका रही है, लेकिन ये प्लेटफॉर्म सिर्फ उन्हें बढ़ा सकते हैं; वे किसी आंदोलन को गति तो दे सकते हैं, उसे खड़ा नहीं कर सकते। इन आंदोलनों के पीछे के लोगों को इनके बीच की कड़ियों को देखना, उन्हें समझना और उन्हें आकार देना होगा। जैसा कि पॉलिटिकल साइंटिस्ट अली खान महमूदबाद ने लिखा भी है (संडे नवजीवन, 26 जुलाई 2026), ‘ज्यादातर लोग इन सभी विरोध-प्रदर्शनों को अलग-अलग नजरिये से देखेंगे। लेकिन भले ही इन लोगों की जिंदगी और हालात बहुत अलग-अलग हों, यह साफ है कि वे सभी एक ऐसी सरकार के खिलाफ प्रतिक्रिया दे रहे हैं, जो नितांत केन्द्रीकृत और जवाबदेही से दूर है, और जो भ्रष्ट संस्थाओं द्वारा दिए गए और समर्थित तकनीकी समाधानों पर निर्भर है। इसके बाद सवाल यह नहीं उठता कि इन समूहों की विचारधाराएं क्या हो सकती हैं, बल्कि यह है कि वे एक-दूसरे को किस नजरिये से देखते हैं और एक-दूसरे से कैसे बात करते हैं।’

किसान नेता सुनीलम जंतर-मंतर आंदोलन को नाउम्मीदी के इस दौर में ‘उम्मीद की किरण’ बताते हैं: “न्याय चाहने वालों के लिए यह पल हौसला बढ़ाने वाला है। पहले, घरों में सत्ता या बड़ों से सवाल करने वाले युवा को नजरअंदाज कर दिया जाता था या सजा मिलती थी। आज, वे जानते हैं कि पूरे देश से अनजान लोगों का भी समर्थन उन्हें मिल सकता है।” भरोसे का यह अहसास ही शायद इस आंदोलन की सबसे बड़ी और स्थायी विरासत, स्थायी उपलब्धि साबित हो! ■

ओह, वह ‘माफ़ी’ का ढोंग!

लोकतंत्र में प्रदर्शनकारियों का प्रधानमंत्री के प्रति सम्मान दिखाने का कोई दायित्व नहीं होता

अशोक स्वैन

शुक्रवार, 31 जुलाई को प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने देर रात अपने इंस्टाग्राम पर एक रील साझा की। इसमें वह अभिभावक की तर्ज पर उन युवा प्रदर्शनकारियों को ‘माफ’ करते दिखे, जिन्होंने उनके और उनकी मां के खिलाफ अभद्र भाषा का प्रयोग किया था। उनके शब्दों में, वे प्रदर्शनकारी ‘भटके हुए बच्चे’ हैं, जिन्हें सही राह दिखाने की जरूरत है। लेकिन इस भावुक भंगिमा के पीछे एक गंभीर सवाल दब जाता है: आखिर वह एक कथित लोकतंत्र में किस कानूनी अपराध को माफ कर रहे थे? इसके बजाय, क्या उन्हें पहले अपनी सरकार की उन गलतियों के लिए माफी नहीं मांगनी चाहिए, जिनकी वजह से देश भर से युवाओं को जंतर-मंतर पर जुटना पड़ा?

मान भी लें कि प्रदर्शन में इस्तेमाल की गई भाषा कुछ मौकों पर अमर्यादित और भद्दी थी, तब भी खराब बोली कब से आपराधिक अपराध बन गई? एक लोकतांत्रिक व्यवस्था में नागरिकों का यह कर्तव्य नहीं है कि वे प्रधानमंत्री के प्रति स्नेह, आदर-भाव दिखाएं या संसदीय भाषा का ही प्रयोग करें। जब तक कि कहे गए शब्द किसी स्पष्ट खतरे, हिंसा को उकसाने या किसी परिभाषित कानून का उल्लंघन न करते हों, वे राजनीतिक अभिव्यक्ति के दायरे में सुरक्षित हैं। सिर्फ इसलिए कि लोगों ने अपना गुस्सा असभ्य तरीके से जाहिर किया, राज्य को उन्हें सजा देने का अधिकार नहीं।

प्रधानमंत्री के इस हस्तक्षेप का समय भी काफी कुछ बयां करता है। उन्होंने यह कदम तब उठाया जब देश भर में तेजी से फैलते विरोध प्रदर्शनों के दबाव में शिक्षा मंत्री को पद से हटाना पड़ा था। 23 जुलाई को सरकार के साथ समझौते और सभी एफआईआर वापस लेने के आश्वासन के बाद आंदोलन स्थगित कर दिया गया था। लेकिन उस वादे को निभाया नहीं गया। उल्टा प्रदर्शनकारियों, खासकर युवा महिलाओं को सुनियोजित ऑनलाइन ट्रोलिंग, निजी डेटा लीक (डॉक्सिंग) और धमकियों का निशाना बनाया गया। व्यस्त बाजारों में पुलिस की मौजूदगी के बावजूद सरकार समर्थित असामाजिक तत्व प्रदर्शनकारियों को धमकाते देखे गए। जब इस कार्रवाई के खिलाफ आवाज बुलंद हुई और युवाओं ने दोबारा सड़क पर उतरने की चेतावनी दी, तो प्रधानमंत्री इंस्टाग्राम पर क्षमादान का उपहार बांटने प्रकट हो गए- राज्य की जवाबदेही के मूल प्रश्न को एक ताकतवर व्यक्ति की आहत भावनाओं के नाटक में बदलते हुए।

उनकी इस माफी से भी दुष्कर्म और जान से मारने की धमकियां रुकी नहीं हैं। डॉक्सिंग जारी है: निजी जानकारियां, पारिवारिक ब्योरे और पते बिना ऑनलाइन शेयर किए जा रहे हैं। प्रदर्शनकारियों को ‘भटके हुए बच्चे’ कहकर संबोधित करना और उन्हें माफ करने की बात कहना नैतिक श्रेष्ठता हासिल करने की सोची-समझी कोशिश है। ये कोई बच्चे नहीं हैं; ये वयस्क नागरिक हैं, जिनमें से ज्यादातर मतदाता हैं और अपनी सरकार से बेहतर शासन की मांग कर रहे हैं। उन्हें बचकाना साबित करना उनकी राजनीतिक चेतना और अधिकारों को छोटा दिखाना है।

प्रदर्शनकारियों की भाषा और उनके खिलाफ कार्रवाई में मौलिक अंतर है। कोई भी गाली, चाहे वह कितनी भी बुरी क्यों न हो, दुष्कर्म की धमकी, जान से मारने की धमकी या ऑनलाइन निजी जानकारी लीक करने के बराबर नहीं हो सकती- जो इस माहौल में हिंसा भड़काने जैसा है। कम-से-कम यह निशाना बनाए गए प्रदर्शनकारियों और बाकी लोगों में एक खामोश डर पैदा करने की कोशिश तो है ही। चिंता की बात यह है कि राज्य और मीडिया का सारा गुस्सा मोदी के खिलाफ बोले गए भद्दे शब्दों पर केन्द्रित है, जबकि युवा महिलाओं को शारीरिक नुकसान की धमकियों को अनदेखा किया जा रहा है। यह लोकतंत्र की मौजूदा स्थिति को साफ दिखाता है।

*

मुझे इस राज्य तंत्र का व्यक्तिगत अनुभव है। पिछले बारह साल से मोदी समर्थक मुझे, मेरे परिवार, मेरे सहयोगियों और यहां तक कि मेरे दिवंगत पिता को गालियां दे रहे हैं; हिंसा, दुष्कर्म और हत्या की धमकियां दे रहे हैं। स्वीडन की उप्सला यूनिवर्सिटी में मेरे शैक्षणिक पद और यूनेस्को चेयर के रूप में मेरी भूमिका के खिलाफ ऑनलाइन अभियान चलाए गए। मकसद साफ है: मोदी की नीतियों की आलोचना करने की व्यक्तिगत और संस्थागत कीमत इतनी बढ़ा दी जाए कि लोग डर जाएं।

हमारे लिए तो देर रात चिंता जताने वाला कोई संदेश नहीं आया! न ही भाजपा के किसी बड़े नेता ने हमलावरों को भाषा, शालीनता या परिवारों के सम्मान पर कोई सीख दी। इसके उलट, संगठित राजनीतिक संदेशों और अनियंत्रित ऑनलाइन नफरती अभियानों के बीच की रेखा को अक्सर जान-बूझकर धुंधला रखा जाता है। इससे सत्ता में बैठे लोगों को आसानी से पल्ला झाड़ने का मौका मिल जाता है, जबकि आलोचकों को इसका नतीजा भुगतना पड़ता है। नेता खुद को हिंसक भीड़ से अलग-थलग होने का दिखावा करते हैं, जबकि वही भीड़ उन्हीं के नाम पर हिंसा फैलाती है।

इतिहास गवाह है कि शासकों के अपमान को कानूनन अपराध बनाने की कोशिशें हमेशा लोकतांत्रिक व्यवस्था के खिलाफ साबित हुई हैं। फ्रांस में राष्ट्रपति निकोलस सरकोजी को एक तख्ती दिखाने पर ऐक्टिविस्ट हर्वे इयॉन को दोषी ठहराया गया था, जिस पर वही भद्दा वाक्य लिखा था जो खुद सरकोजी ने कभी इस्तेमाल किया था। यूरोपीय मानवाधिकार अदालत ने फैसला सुनाया कि यह सजा अभिव्यक्ति की आजादी का उल्लंघन है।

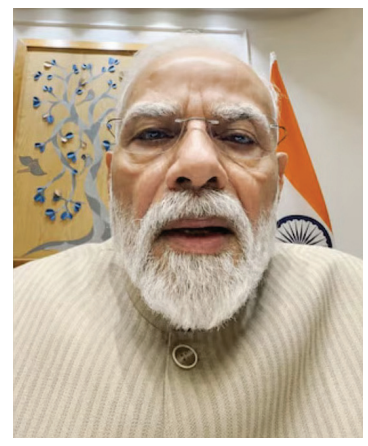

> माननीय प्रधानमंत्री जी,
> लोकतांत्रिक आज़ादी की परख ऐसी बातों से होती है जो नाराज़ करती हैं,चौंकाती हैं और ठेस पहुंचाती हैं

इसी तरह स्पेन में राजा जुआन कार्लोस और रानी सोफिया की तस्वीरों को जलाने पर दो प्रदर्शनकारियों को सजा सुनाई गई थी। यूरोपीय अदालत ने माना कि उनकी सजा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन थी: वह कृत्य एक उत्तेजक राजनीतिक आलोचना था, न कि नफरत या हिंसा फैलाने की कोशिश। स्पेन के ही एक अन्य मामले में अदालत ने बास्क राजनीतिज्ञ अर्नल्डो ओतेगी को राजा का अपमान करने की सजा से बरी करते हुए इस बात पर जोर दिया कि राष्ट्रप्रमुख को कोई विशेष सुरक्षा कवच नहीं दिया जा सकता जो उस संस्था को राजनीतिक चुनौतियों से बचाए। पोलैंड में लेखक याकुब जुलचिक पर राष्ट्रपति आंद्रेज डूडा को ‘मूर्ख’ कहने के लिए मुकदमा चलाया गया, लेकिन अदालत ने अंततः उन्हें यह कहते हुए बरी कर दिया कि आपराधिक सजा राजनीतिक बहस को अनुचित रूप से सीमित करेगी।

ये मामले हर अपमान को सही नहीं ठहराते। वे एक अधिक महत्वपूर्ण बात स्थापित करते हैं: लोकतांत्रिक स्वतंत्रता की परीक्षा उन विचारों से होती है जो आपको परेशान करते हैं, चौंकाते हैं या आहत करते हैं-न कि उन बातों से जिन्हें हर कोई आसानी से स्वीकार कर ले। नेताओं के पास टेलीविजन, पार्टी संगठन, सार्वजनिक मंचों और संस्थागत अधिकारों तक सीधी पहुंच होती है। वे आपराधिक कानून का सहारा लिए बिना भी आलोचना का जवाब दे सकते हैं। चूंकि वे अपार शक्ति का इस्तेमाल करते हैं, इसलिए उन्हें आम नागरिकों की तुलना में अधिक तीखी आलोचना सहने का साहस दिखाना चाहिए, न कि उससे बचने के लिए विशेष सुरक्षा की मांग करनी चाहिए।

मोदी द्वारा माफी का यह बड़ा दावा उस मूल उकसावे और कारणों से ध्यान भटकाने की भी कोशिश है जिसकी वजह से उन पर व्यंग्य किया जा रहा था। भारत के युवा किसी प्रधानमंत्री का अपमान करने के इरादे से सड़कों पर नहीं उतरे थे। वे एक चरमराती शिक्षा प्रणाली और प्रतियोगी परीक्षाओं में बार-बार होते पर्चा लीक के खिलाफ विरोध दर्ज करा रहे थे, जिसने उनके भविष्य को दांव पर लगा दिया था; वे शासन की विफलताओं का विरोध कर रहे थे। अभद्र भाषा को केन्द्र में रखकर मोदी सरकार जनता से उस परीक्षा घोटाले, शिक्षा मंत्री के अपमानजनक इस्तीफे और आंदोलन को भुलाने के लिए कह रही है जिसने सरकार को पीछे हटने पर मजबूर कर दिया था।

सरकार की यह कार्रवाई प्रमाण है कि उसकी दिलचस्पी व्यवस्था को सुधारने में नहीं है; वह केवल किसी तरह इस संकट को टालना चाहती है। उसने पहले आंदोलन समाप्त करने के लिए झूठे आश्वासन दिए और अब प्रदर्शनकारियों के मन में डर पैदा करने के लिए उनके पीछे पड़ी है ताकि वे दोबारा एकजुट न हो सकें। निष्पक्ष जांच होती तो दर्ज ‘जीरो एफआईआर’ को कानूनन अनुचित पाया जाता; ध्यान दुष्कर्म और जान से मारने की धमकियों, डॉक्सिंग और डराने-धमकाने की घटनाओं की जांच पर केन्द्रित होता।

माफी देना किसी का निजी नैतिक चुनाव है। यह तब राजनीतिक रूप से खतरनाक हो जाता है जब कोई शासक उस आचरण को माफ करने का अधिकार जताने लगे जिसे अपराध घोषित करने का हक भी कानूनन उसके पास नहीं था। भारत के इन युवा प्रदर्शनकारियों को नरेन्द्र मोदी से किसी पिता समान क्षमादान की जरूरत नहीं। उन्हें उस राज्य से संवैधानिक संरक्षण चाहिए जिसके मोदी जी प्रमुख हैं, और ये युवा उनकी सरकार से सीधी जवाबदेही की मांग कर रहे हैं। ■

अशोक स्वैन स्वीडन की उप्सला यूनिवर्सिटी में पीस एंड कॉन्फ्लिक्ट रिसर्च के प्रोफेसर हैं

इस समाचारपत्र का प्रकाशन **पवन कुमार बंसल** द्वारा हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-11002 से **दि एसोसिएटेड जर्नल्स लिमिटेड**, हेराल्ड हाउस, 5-ए, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-110002 की ओर से संपादन **राजेश झा** द्वारा और मुद्रण आर. सी. मल्होत्रा द्वारा दि इंडियन एक्सप्रेस (प्रा.) लिमिटेड प्रेस, ए-8, सेक्टर-7, नोएडा- 201301, उत्तर प्रदेश से किया जा रहा है।

काम का अंबार, पक्की नौकरियों का अकाल

अजीत रानाडे

बेशक नीट पर्चा लीक मामले ने हालिया छात्र आंदोलन को हवा दी हो, लेकिन यह मानना बड़ी भूल होगी कि प्रदर्शन केवल परीक्षाओं के कुप्रबंधन के खिलाफ था। प्रदर्शनों में झलकता गुस्सा गहरी आशंका से उपजा है। करोड़ों युवाओं के लिए प्रतियोगी परीक्षाएं सुरक्षित-सम्मानजनक वेतन वाली नौकरी पाने के चंद जरियों में एक हैं। ऐसे में, जब इन परीक्षाओं की निष्पक्षता से समझौता होता है, तो सीधा मतलब होता है- दोबारा प्रयास करने के लिए पूरे साल का इंतजार। इसलिए, शुरू से ही यह आंदोलन जितना परीक्षाओं को लेकर था, उतना ही नौकरियों के लिए भी।

सरकारी प्रतियोगी परीक्षाएं स्नातकों के लिए ऐसा 'वेटिंग रूम' बन चुकी हैं जहां जीवन ठहर जाता है। 20-22 साल के युवा उन परीक्षाओं को पास करने की बार-बार कोशिश में, जहां सफलता दर महज 1-2 फीसद होती है, कोचिंग संस्थानों और किराये के कमरों में सालों खपा देते हैं। ये उनके जीवन के वे सबसे कीमती साल होते हैं जिनमें वे काम का अनुभव, व्यावहारिक कौशल और पेशेवर संपर्क हासिल कर सकते थे।

युवाओं का यह लंबा इंतजार बेवजह नहीं, क्योंकि निजी क्षेत्र में शुरुआती स्तर के वेतन लंबे समय से ठिठके हैं। एक युवा पुरुष स्नातक की औसत मासिक कमाई 2011 के 21,800 रुपये से घटकर 2023 में 19,573 रुपये रह गई और यह गिरावट तो महंगाई दर के समायोजन से पहले की है। इसके उलट, सरकारी नौकरी कहीं बेहतर वेतन, निरंतरता, स्वास्थ्य लाभ, सामाजिक प्रतिष्ठा और नौकरी छूटने से सुरक्षा देती है। व्यक्तिगत स्तर पर देखें तो इंतजार का यह फैसला तर्कसंगत लगता है, लेकिन सामूहिक स्तर पर इसका परिणाम मानव क्षमता की भारी बर्बादी है।

वर्ष 2004 से 2023 के बीच, भारत ने हर साल औसतन 50 लाख स्नातक तैयार किए, लेकिन स्नातकों के लिए रोजगार में सालाना केवल 28 लाख का ही इजाफा हो सका। इनमें भी नियमित वेतन वाली नौकरियां की संख्या और कम थी। नतीजतन, करोड़ों युवा या तो बेरोजगार हैं, या अपनी योग्यता से कमतर काम कर रहे हैं, या किसी दुर्लभ सरकारी नौकरी की उम्मीद में 'वेटिंग रूम' में बैठे हैं।

आवधिक श्रम बल सर्वेक्षण ने 2025 में समग्र बेरोजगारी दर 3.1 फीसद और युवा बेरोजगारी दर 9.9 फीसद दर्ज की। लेकिन 'सामान्य स्थिति' का मापक किसी व्यक्ति को तब भी 'रोजगारयुक्त' मान लेता है जब उसने बीते एक साल में महज 30 दिन कोई छोटी-मोटे आर्थिक गतिविधि की हो। इस तरह पारिवारिक खेत में कभी-कभार हाथ बटाने वाला, डिलीवरी का छिटपुट काम करने वाला या स्वरोजगार से बेहद मामूली आय अर्जित करने वाला व्यक्ति भी आंकड़ों में 'रोजगारयुक्त' माना जाता है।

यही वजह है कि रोजगार पर बहस को केवल 'रोजगारयुक्त' और 'बेरोजगार' के सपाट विभाजन से आगे ले जाना होगा। अल्प-रोजगार, परोक्ष बेरोजगारी, काम के अनिश्चित घंटे, कम मजदूरी, अनुबंध पत्र का न होना और सामाजिक सुरक्षा का अभाव भी उतने ही महत्वपूर्ण मुद्दे हैं।

दोनों फोटो: गेटी इमेजेज

प्रतियोगी परीक्षाएं उन युवाओं के लिए वेटिंग रूम बन गई हैं जो कोचिंग क्लास में सालों बिताते हैं। इसीलिए हर पेपर लीक परेशान करता है

मानव पूंजी के अधूरे इस्तेमाल की सबसे साफ तस्वीर कृषि क्षेत्र में दिखती है। रोजगार में इसकी हिस्सेदारी, जो कई दशकों से घट रही थी, 2017-18 के 44.1 फीसद से बढ़कर 2023-24 में 46.1 फीसद हो गई। यह उलटफेर महामारी के दौर में हुए पलायन के साथ विनिर्माण और सेवा क्षेत्रों की उस विफलता को भी दिखाता है जिसके कारण वे श्रमिकों को पर्याप्त संख्या में खपा नहीं सके। कृषि क्षेत्र राष्ट्रीय उत्पादन में केवल छठे हिस्से का योगदान देता है, लेकिन वर्कफोर्स के दो-पांचवें से अधिक हिस्से का बोझ उठाता है। पारिवारिक खेत अक्सर अंतिम विकल्प होते हैं। ताजा पीएलएफएस आंकड़े इसमें मामूली गिरावट दिखाते हैं, लेकिन यह मापन की कार्यप्रणाली में आए बदलाव का नतीजा भी हो सकता है।

मजदूरी की स्थिति और साफ तस्वीर पेश करती है। पुरुष अकुशल दैनिक श्रमिकों की औसत दिहाड़ी 2024 के 456 रुपये की तुलना में 2025 में व्यावहारिक रूप से 455 रुपये पर टिकी रही। महिला दैनिक श्रमिकों की कमाई 299 रुपये से बढ़कर 315 रुपये हुई। ये महज नाममात्र के आंकड़े हैं, जिनमें जीवन-यापन की लागत में हुई बढ़ोतरी को शामिल नहीं किया गया है।

प्लेटफॉर्म आधारित काम (गिग वर्क) के विस्तार को इसी पृष्ठभूमि में देखना चाहिए। हाल ही में एक प्रमोशनल विज्ञापन में घरेलू काम के लिए 29 रुपये प्रति घंटे की पेशकश की गई। यह ग्राहक को दी गई रियायती दर थी, न कि उस कामगार को मिलने वाली मजदूरी। एक प्रमुख डिजिटल समाचार पत्र द्वारा साक्षात्कार किए गए कामगारों ने माना कि उनकी मासिक कमाई पारंपरिक घरेलू काम की तुलना में बेहतर है। लेकिन इसके साथ ही इसने छुट्टियों पर सख्त पाबंदियों, जुर्माने, अनिश्चित ब्रेक, लंबे कार्य-दिवस और ऐप के जरिये चौबीस घंटे निगरानी की कड़वी सच्चाई को भी उजागर किया। कामगारों का कहना था कि वे आपात स्थिति में भी छुट्टी नहीं ले सकते और न ही समय पर खाना खा सकते हैं। प्लेटफॉर्म अर्थव्यवस्था एक उपयोगी आर्थिक भूमिका निभाती है। यह खोज लागत घटाती है, ग्राहकों और कामगारों को तेजी से जोड़ती है, नई सेवाएं पैदा करती है और अनौपचारिक श्रम बाजार में कुछ हद तक पारदर्शिता लाती है। इसलिए नीतिगत प्रतिक्रिया गिग अर्थव्यवस्था के रास्ते में रोड़े अटकाने की नहीं होनी चाहिए। लेकिन कामगारों को केवल 'पार्टनर' कह देने से जवाबदेही पूरी नहीं हो जाती-खासकर तब जब प्लेटफॉर्म ही ग्राहकों तक पहुंच, काम के घंटे, रेटिंग, पेनल्टी और काम की पात्रता तय करता हो।

असुरक्षा की यह स्थिति अब उन पेशों में भी दिख रही है जिन्हें कभी सुरक्षित मानते थे। आईटी क्षेत्र में बेंच पीरियड घटाकर, परफॉर्मेंस इम्प्रूवमेंट प्लान, कौशल-आधारित छंटनी और 'इस्तीफे के प्रोत्साहन' के जरिये नौकरियां छीनी जा रही हैं। वहीं दूसरी ओर, एआई के दुर्लभ कौशल वाले शोधकर्ताओं और इंजीनियरों को असाधारण वेतन और स्टॉक विकल्प मिल रहे हैं। श्रम बाजार असमान होता जा रहा है: तकनीक के नए क्षितिज पर असीमित इनाम हैं, तो दूसरी तरफ रूटीन कोडिंग, टेस्टिंग और बैक-ऑफिस के काम में भारी अनिश्चितता।

> भारत को रोजगार के ऐसे दोहरे ढांचे की जरूरत है जहां गिग और प्लेटफॉर्म अर्थव्यवस्था को फलने-फूलने का मौका मिले, और साथ ही इस काम को 'सम्मानजनक' बनाने वाला तंत्र भी हो

साफ संकेत है कि भारत को ऐसे भविष्य के लिए तैयार होना होगा जहां काम तो बहुत हो सकता है, लेकिन पारंपरिक नौकरियां कम रहेंगी। पारंपरिक रूप से नौकरी का मतलब था-एक ही नियोक्ता के साथ लंबा रिश्ता, तय वेतन, काम के निश्चित घंटे और कुछ हद तक सामाजिक सुरक्षा। भविष्य में काम का ढांचा तेजी से प्रोजेक्ट्स, असाइनमेंट्स, प्लेटफॉर्म्स और कई तरह के अल्पकालिक करारों के रूप में आएगा। गिग वर्कर कोई छोटा वर्ग नहीं रहा। कार्यबल के बड़े हिस्से के लिए काम की यही लचीली व्यवस्था आम बात हो गई है।

ऐसी लचीली व्यवस्था से देखभाल की जिम्मेदारी उठाने वाली महिलाओं, बुजुर्गों, प्रवासियों और कुशल पेशेवरों को उनकी परिस्थितियों के अनुकूल काम करने का मौका मिल सकता है। यह उद्यमिता को बढ़ावा देगी। लेकिन एक उचित नीतिगत ढांचे के बिना, नियोक्ता के लिए जो 'लचीलापन' है, वह कामगार के लिए भारी 'असुरक्षा' बन सकता है।

इसलिए भारत को एक साथ दो काम करने होंगे: पहला, ऐसा माहौल जहां गिग और प्लेटफॉर्म अर्थव्यवस्था फले-फूले; और दूसरा, ऐसा कानूनी ढांचा जो इस काम को 'सम्मानजनक' बनाए। सामाजिक सुरक्षा के लाभ ऐसे हों कि नियोक्ता या प्लेटफॉर्म बदलने पर भी कामगार वह लाभ आसानी से साथ ले जा सके। प्लेटफॉर्म्स को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि पारिश्रमिक, रेटिंग, काम का आवंटन और आईडी निष्क्रिय करने के फैसले किन आधार पर लिए जाते हैं। कामगारों के लिए आसान शिकायत निवारण तंत्र, समय पर भुगतान और मनमाने निष्कासन से सुरक्षा जरूरी है। कानून को काम के वास्तविक लचीलेपन को बनाए रखना चाहिए, लेकिन 'पार्टनरशिप' जैसी शब्दावली के आड़ में नियोक्ता को उसकी बुनियादी जिम्मेदारियों से भागने की इजाजत नहीं मिलनी चाहिए।

इसी संदर्भ में, 'प्लेटफॉर्म अर्थव्यवस्था में सम्मानजनक काम' पर अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन के सम्मेलन से भारत का दूरी बनाना अच्छा संकेत नहीं। संगठन का कन्वेंशन नंबर 193 ऐप-आधारित और डिजिटल प्लेटफॉर्म कार्य को लक्षित करने वाली दुनिया की पहली कानूनन बाध्यकारी संधि है। खबरों के मुताबिक, भारतीय कामगारों और नियोक्ता प्रतिनिधियों ने संधि का समर्थन किया, जबकि सरकारी प्रतिनिधि ने मतदान से दूरी बना ली। सरकार का यह रुख चिंता पैदा करता है, क्योंकि भारत का घरेलू गिग बल तेजी से बढ़ रहा है, फिर भी एल्गोरिदम की पारदर्शिता और कामगारों के पुनर्वर्गीकरण पर बाध्यकारी वैश्विक मानकों को अपनाने में हिचकिचाहट दिख रही है।

भारत को निस्संदेह अधिक से अधिक रोजगार की जरूरत है। नीतिगत चुनौती कामगारों के हितों की रक्षा की है-यह सुनिश्चित करने की कि असाइनमेंट, कॉन्ट्रैक्ट और प्लेटफॉर्म पर आश्रित होता जा रहा श्रम बाजार कामगारों को आय की सुरक्षा, मोलभाव की ताकत और सामाजिक संरक्षण से वंचित न कर दे। वरना, सरकारी नौकरियों का यह 'वेटिंग रूम' ऐसे ही भरता रहेगा। ■

अजीत रानाडे प्रख्यात अर्थशास्त्री हैं। साभार: द बिलियन प्रेस

ताज ही सुरक्षित नहीं, तो फिर बचा क्या?

सुप्रीम कोर्ट का अपने ही पुराने आदेश को पलटना भारत के ऐतिहासिक स्मारकों के संरक्षण के लिए खतरनाक नज़ीर

रश्मि सहगल

मुगल विरासत पर प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी की निजी राय जो भी हो, इस सच से मुंह नहीं मोड़ सकते कि ताजमहल भारत की वैश्विक पहचान रखने वाली सबसे प्रिय ऐतिहासिक धरोहर है। प्रेम और स्थापत्य कला का यह बेजोड़ प्रतीक देश के 145 टिकट-आधारित स्मारकों में सबसे ज्यादा कमाई करने वाली इमारत है जहां हर साल 70 लाख से ज्यादा पर्यटक आते हैं। फिर ऐसा क्या हुआ कि सुप्रीम कोर्ट को ताज की सुरक्षा से जुड़े अपने ही दशकों पुराने आदेश को बदलना पड़ा?

बीते माह मुख्य न्यायाधीश सूर्यकांत की अध्यक्षता वाली पीठ ने अक्तूबर 2024 के उस आदेश में संशोधन कर दिया, जिसने अदालत की पूर्व अनुमति के बिना 'ताज ट्रैपेजियम जोन' (आईटीजेड) में किसी भी नई औद्योगिक गतिविधि पर प्रभावी रोक लगा रखी थी। आगरा, मथुरा समेत उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान के आस-पास के जिलों में फैले 10,400 वर्ग किलोमीटर के संरक्षित क्षेत्र में नए उद्योग लगाने की अनुमति मांगने वाले एमएसएमई के 410 लंबित आवेदनों को अब मंजूरी प्रक्रिया में शामिल करने की अनुमति दे दी गई है।

उत्तर प्रदेश सरकार के माध्यम से दायर इन आवेदनों में चमड़ा और जूता निर्माण इकाइयां, हस्तशिल्प और पत्थर प्रसंस्करण उद्योग, फाउंड्री, सिरेमिक, इंजीनियरिंग उद्योग, कृषि प्रसंस्करण इकाइयां, होटल और अस्पताल शामिल हैं। राज्य सरकार की दलील थी कि ये परियोजनाएं कोयले के बजाय बिजली और प्राकृतिक गैस पर चलेंगी। हालांकि अदालत ने निर्देश दिया है कि प्रत्येक प्रस्ताव की जांच 'केन्द्रीय अधिकार प्राप्त समिति' (सीईसी) और 'राष्ट्रीय पर्यावरण अभियांत्रिकी अनुसंधान संस्थान' (नीरी) करेगा, फिर भी इसने उस एहतियाती नजरिये को पलट दिया जिसने दशकों ताज को बचाए रखा। हैरानी है कि पीठ ने एमिकस क्यूरी को यह तय करने का अंतिम अधिकार दिया कि अदालती हस्तक्षेप कब और क्यों मांगा जा सकता है। यानी अगर नीरी और सीईसी हरी झंडी दे भी दें, तो भी एमिकस क्यूरी उनके फैसले को खारिज कर सकते हैं।

कोर्ट ने न तो इस इलाके की पर्यावरण वहन क्षमता का आकलन मांगा और न टीटीजेड के लिए लंबित 'विजन डॉक्यूमेंट' पर गौर किया। मूल सवाल कभी यह रहा ही नहीं कि नए उद्योग स्वच्छ ईंधन जलाएंगे या नहीं, असली सवाल यह था कि क्या पहले से ही भारी दबाव झेल रहा यह नाजुक पारिस्थितिकी तंत्र अतिरिक्त औद्योगिकीकरण का बोझ सह सकेगा? सुप्रीम कोर्ट ने पर्याप्त जमीनी अध्ययन बिना फैसला ले लिया। ताज को बचाने की कानूनी लड़ाई 1970 के दशक में शुरू हुई थी और 1984 में तेज हुई जब ऐक्टिविस्ट और वकील एम.सी. मेहता इस मामले को सुप्रीम कोर्ट ले गए। सल्फर डाइऑक्साइड के उत्सर्जन, ईंट-भट्टों और तेल रिफाइनरी के प्रदूषण से सफेद संगमरमर पीला और हरा होने लगा था, जबकि गर्भगृह में मुमताज महल की कब्र को फंगल इंफेक्शन नुकसान पहुंचा रहा था।

ड्यूक यूनिवर्सिटी के इंजीनियर माइक बर्जिन ने अपने अध्ययन में कहा है कि कैसे प्रदूषण और धूल कणों ने ताज को मटमैला कर दिया। चूंकि ये बारीक कण संगमरमर से चिपक जाते हैं और पानी में नहीं घुलते, इनकी सफाई मुश्किल होती है और इससे संगमरमर की सतह को नुकसान पहुंचने का जोखिम रहता है। हालांकि भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण (एएसआई) समय-समय पर मुल्तानी मिट्टी का लेप लगाता है, लेकिन संरक्षण विशेषज्ञों का मानना है कि यह लक्षणों का इलाज है, बीमारी का नहीं।

यमुना नदी, जिसकी सेहत इस स्मारक के अस्तित्व से सीधी जुड़ी है,रासायनिक कचरे, गैरशोधित सीवेज और कचरे से अटी पड़ी है, जो कीड़े-मकोड़ों का घर बन चुकी है। एएसआई ने चेताया है कि ताज पर हरे रंग के धब्बे 'गोएल्डीचिरोनोमस' नाम के कीट की बीट के कारण हैं, जो प्रदूषित नदी में तेजी से पनपता है। आगरा में 90 बड़े नाले हैं, जिनमें से केवल 4 का पानी ही ट्रीटमेंट प्लांटों में साफ होता है। बाकी 65 का गंदा कचरा सीधे यमुना में जाता है। स्थिति को बदतर बनाता है नदी का घटता जलस्तर जिससे ताज की नींव को गंभीर खतरा पैदा हो रहा है।

खबरों के मुताबिक, एएसआई ने तीन साल में टिकट बिक्री से 90 करोड़ रुपये कमाए, लेकिन संरक्षण पर 9.41 करोड़ खर्च किए। बाकी रकम कहां इस्तेमाल हुई? आईआईटी के 2015 के एक अध्ययन में पाया गया कि ताज की सतह पर जमा होने वाले प्रदूषकों में 3 प्रतिशत हिस्सा वाहनों के प्रदूषण से निकलने वाले ब्लैक कार्बन का है; 30 प्रतिशत ब्राउन कार्बन है और बाकी कचरा, उपले, पराली और जीवाश्म ईंधन जलने से उठने वाली धूल है।

पर्यावरण ऐक्टिविस्ट बृज खंडेलवाल कहते हैं कि 1977 में ऐक्टिविस्ट्स ने मथुरा रिफाइनरी कहीं और ले जाने की मांग को लेकर भूख हड़ताल की थी, क्योंकि उन्हें डर था कि सल्फर डाइऑक्साइड का उत्सर्जन ताज को नष्ट कर देगा। आज स्थिति ज्यादा खराब है। उनका कहना है, 'ताजमहल हजारों ट्रकों, बसों और भारी वाहनों से निकलने वाली धूल, धुंध और धुएं से दब रहा है। यमुना और सहायक नदियां सूख रही हैं, ताल-तलैया गायब हो चुके हैं। ऐसी नाजुक स्थिति में नए उद्योगों से पर्यावरण पर क्या असर पड़ेगा, इसका वैज्ञानिक अध्ययन तो होना चाहिए था।'

1990 के आसपास आगरा में करीब दो लाख पंजीकृत गाड़ियां थीं। 2026 के मध्य तक यह संख्या 16.9 लाख पार कर चुकी है। शहर के एक्सप्रेसवे का इस्तेमाल रोजाना 50,000 से अधिक वाहन करते हैं। खंडेलवाल आगाह करते हैं कि अतिरिक्त औद्योगिक गतिविधियों से निश्चित ही यातायात, निर्माण और ऊर्जा की मांग बढ़ेगी, जो दशकों की कानूनी लड़ाई से हासिल पर्यावरणीय लाभ को खत्म कर देगी। पर्यावरण कार्यकर्ता डॉ. देवाशीष भट्टाचार्य ने पेठा उद्योग को शहर से बाहर ले जाने की मांग को लेकर याचिका दायर कर रखी है, क्योंकि इसका कचरा सड़कों या खुले नालों से होते हुए अंततः यमुना में ही गिरता है।

आगरा विश्वविद्यालय के डॉ. मुकुल पांड्या संकट के एक अन्य पहलू की बात करते हैं। सर्दियों में वायु गुणवत्ता अक्सर 250 से 300 के खतरनाक स्तर तक गिर जाती है, जहां जहरीला स्मॉग ताज समेत और अन्य ऐतिहासिक इमारतों को आगोश में ले लेता है। उनका तर्क है, 'इससे निपटने का उपाय स्थानीय पेड़ और फूलदार झाड़ियां लगाना है।' 29 जुलाई को सुप्रीम कोर्ट ने कानून की भावना और कमजोर कर दी जब उसने यह इजाजत दे दी कि यदि किसी परियोजना को प्रशासनिक आदेश के बजाय सरकारी अधिसूचना के जरिये लाया जाए, तो काम शुरू होने के बाद भी उसे कानूनी मंजूरी दी जा सकती है। डर है कि नियमों के उल्लंघन को बाद में नियमित करने की यह छूट परिपाटी बन जाएगी, जिससे उस स्थापित सिद्धांत को धक्का पहुंचेगा कि पर्यावरण सुरक्षा के उपाय विकास से पहले होने चाहिए, न कि उसके बाद।

पर्यावरणविदों को हैरानी है कि देश की सबसे बड़ी अदालत पर्यावरण की रक्षा के लिए लड़ने वालों को ही कठघरे में कैसे खड़ा कर सकती है। सार्वजनिक संसाधनों और सांस्कृतिक विरासत की रक्षा में अपनी संवैधानिक भूमिका निभाने के बजाय, मुख्य न्यायाधीश सूर्यकांत व्यंग्यात्मक बयान देते हैं कि 'देश में एक भी परियोजना दिखाएं जहा ये कथित ऐक्टिविस्ट कहें कि वे इसका स्वागत करते हैं।'

ताज पर इस बहस को मौजूदा सत्ता की उस इच्छा से अलग करके नहीं देखा जा सकता जो इतिहास को मिटाने और दोबारा लिखने पर आमादा है। अर्थव्यवस्था, कृषि, वास्तुकला, विज्ञान और इंजीनियरिंग में मुगलों के योगदान के बावजूद एनसीईआरटी की किताबों से मुगलों से जुड़े अध्याय हटा दिए गए हैं। सबसे खतरनाक कृत्य कट्टरपंथी तत्वों की ओर से देखने को मिल रहा है। 4 अगस्त को अखिल भारत हिन्दू महासभा के कार्यकर्ताओं ने धार्मिक अनुष्ठान करने के लिए कांवड़ लेकर ताजमहल में प्रवेश का प्रयास किया। इलाहाबाद हाईकोर्ट तो एक कदम और आगे बढ़ गया और उसने यह मांग करने वाली याचिका स्वीकार कर ली कि क्या ताजमहल शिव मंदिर था।

वर्ष 2019 में, सुप्रीम कोर्ट ने सरकार को सख्त चेतावनी देते हुए कहा था कि वह या तो ताज का संरक्षण करे, इसे बंद कर दे या फिर इसे ध्वस्त कर दे। अदालत की वह असाधारण टिप्पणी सरकारी उपेक्षा के प्रति उसके गुस्से को दिखाती थी और इस स्मारक के मजबूत संस्थागत संरक्षक के रूप में उसकी भूमिका को रेखांकित करती थी। लेकिन हालिया आदेश एक मुश्किल सवाल खड़ा करता है: क्या अदालत अब अपनी उस ऐतिहासिक विरासत से पीछे हटने लगी है?

ताजमहल लगभग चार शताब्दियों के युद्धों, आक्रमणों और राजनीतिक उथल-पुथल के थपेड़ों को सहकर भी अडिग खड़ा रहा है। लेकिन क्या वह प्रदूषण, पर्यावरणीय उपेक्षा और कमजोर पड़ते कानूनी संरक्षण के मिले-जुले असर से बच पाएगा-यह आज लिए जा रहे फैसलों पर निर्भर करेगा। अगर भारत के सबसे प्रसिद्ध स्मारक के इर्द-गिर्द ही कानूनी सुरक्षा कवच को कमजोर किया जा सकता है, तो देश की उन अनगिनत प्राकृतिक और सांस्कृतिक धरोहरों का भविष्य और भी अनिश्चित हो जाता है जो इतनी चर्चा में भी नहीं आतीं। ■

फोटो: गेटी इमेजेज

आगरा में ताजमहल के पास यमुना की यह हालत खुद ही बहुत कहती है

> ताजमहल ने लगभग चार सदियों तक युद्धों और राजनीतिक उथल-पुथल का सामना किया है। लेकिन क्या यह अदालती उदासीनता का सामना कर पाएगा?

रश्मि सहगल वरिष्ठ पत्रकार हैं

‘मर्यादा पुरुषोत्तम’ राम के बेहतर महिमामंडन के लिए

ए.जे. फिलिप श्री राम जन्मभूमि तीर्थ क्षेत्र के प्रमुख के सामने सीईओ पद के लिए अपनी योग्यता का परिचय देते हैं

परम आदरणीय स्वामी जी,

क्या मैं श्रीराम जन्मभूमि तीर्थ क्षेत्र के मुख्य कार्यकारी अधिकारी (सीईओ) पद के लिए आवेदन कर सकता हूं? पात्रता शर्तें देखने के बाद, मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि चंद कमियों के बावजूद, मैं इसके लिए योग्य उम्मीदवारों में हो सकता हूं।

शुरुआत में ही सबकुछ साफ कर देना जरूरी है। मेरी आयु 70 वर्ष से अधिक हो चुकी है, लेकिन आशा है मेरी पात्रता में बाधक नहीं होगी। मैं अब भी प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी जी, राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार अजीत डोवाल जी और उत्तर प्रदेश की राज्यपाल आनंदीबेन पटेल जी से उम्र में छोटा हूं।

मैं यह भी समझता हूं कि आवेदक को हिन्दू धर्म का पालन करने वाला होना चाहिए, और बेहतर होगा वह वैष्णव हो। मैंने एक प्रमुख हिन्दू नेता को कहते सुना था कि ईसा मसीह को भी हिन्दू परंपरा में माने जाने वाले 33 करोड़ रूपों में से एक माना जा सकता है। यह हिन्दू धर्म की समावेशी प्रकृति का प्रतीक है।

हिन्दू परंपराओं से बचपन से ही जुड़ाव रहा। याद है, मेरे पिता मुझे तिरुवनंतपुरम के श्री पद्मनाभस्वामी मंदिर ले जाते थे, तो मैं किस तरह उनका हाथ कसकर पकड़े रहता था।

कुछ लोग पूछ सकते हैं कि मैं वैष्णव कैसे कहला सकता हूं, तो मेरे पास इसका भी जवाब है।

भगवान विष्णु का पहला अवतार मत्स्य यानी मछली था। ईसाई धर्म का सबसे शुरुआती प्रतीक क्रॉस नहीं, मछली ही था। इस संयोग ने मुझे हमेशा आकर्षित किया है। मैं नहीं समझता कि मेरी नियुक्ति पर खुद भगवान राम को भी कोई आपत्ति होगी।

रामायण उन्हें बतौर एक विजयी राजा नहीं, एक आदर्श शासक के रूप में पेश करता है। रामराज्य का असली मतलब यही हैः एक ऐसा राज्य जहां न्याय निष्पक्ष हो, प्रशासन दयालु और शासक हर नागरिक के प्रति जवाबदेह। यह बाइबिल में उल्लिखित ‘ईश्वरी राज’ के विचार जैसा है, जहां शक्ति नहीं, सच्चाई और सच्चा आचरण ही मुख्य सिद्धांत होते हैं।

पिता मुझे अक्सर कई प्रतिष्ठित मंदिरों की यात्रा करने को प्रेरित करते थे। मुझे रामेश्वरम, मथुरा, काशी, सोमनाथ, तिरुपति, तंजौर, मदुरै, चामुंडी, चिदंबरम, कलाडी और कई अन्य जगहों पर जाने का सु-अवसर मिला है।

मैं खुद को विशेषज्ञ होने का दावा नहीं करता, लेकिन मन में इन संथानों के प्रति हमेशा विनम्रता और सम्मान का भाव रहा है। मैं श्रीराम मंदिर से जुड़ी हर परंपरा का और अधिक विस्तार से अध्ययन करूंगा।

अपनी धार्मिक और आध्यात्मिक योग्यताओं के बारे में बताने के बाद, अब इस काम के व्यावहारिक पहलुओं पर आता हूं।

मैं समझ सकता हूं कि इस पद के साथ कैबिनेट रैंक और उससे जुड़ी सुविधाएं मिलती हैं, लेकिन यह सब मुझे उत्साहित नहीं करता। पद की प्रतिष्ठा का प्रशासनिक सुधार से शायद ही कोई रिश्ता होता हो।

मेरे लिए 50,000 रुपये से 1,00,000 रुपये के बीच का करयुक्त वेतन पर्याप्त होगा। इस पद पर रहते हुए मैं अखबार से जुड़े काम, कंसल्टेंसी या कोई और व्यावसायिक काम नहीं करना चाहूंगा। मेरा पूरा ध्यान मंदिर के प्रशासन पर ही रहेगा।

पता है कि कथित वित्तीय गड़बड़ियों के कारण सीईओ की नियुक्ति जरूरी हो गई है। मुझे ज्यादा हैरानी घोटाले से नहीं हुई, इस बात से हुई कि गिरफ्तार किए गए आठ कर्मचारियों में से छह का मासिक वेतन महज 12,000 से 20,000 रुपये के बीच था।

एक ऐसे कर्मचारी से पूरी ईमानदारी की उम्मीद बेमानी है, जो रोज भारी नकदी संभालते हुए भी बहुत कम आमदनी में परिवार चलाने को अभिशप्त हो। संस्थानों को अनावश्यक रूप से लालच पैदा करने वाले हालात से बचना चाहिए।

मेरा पहला प्रशासनिक फैसला यह सुनिश्चित करना होगा कि किसी भी कर्मचारी को केन्द्र और उत्तर प्रदेश सरकारों द्वारा तय न्यूनतम वेतन से कम वेतन न मिले। सालाना वेतन वृद्धि, मेडिकल सुविधाएं, भविष्य निधि और रिटायरमेंट के बाद की सुरक्षा के साथ एक उचित वेतन ढांचा तैयार किया जाएगा। कर्मचारियों पर परिवार का पेट भरने की चिंता हावी नहीं रहनी चाहिए।

चढ़ावे की गिनती और हिसाब-किताब का काम स्टेट बैंक ऑफ इंडिया या ट्रस्ट द्वारा चयनित किसी अन्य सरकारी बैंक को सौंपा जाएगा। बैंकिंग पेशेवर बड़े पैमाने पर नकदी प्रबंधन संभालने के ज्यादा मुफीद होते हैं।

पिछले दिन जमा हुई, मसलन नकदी, सोना, चांदी और दूसरी कीमती चीजों का ब्योरा मंदिर की आधिकारिक वेबसाइट पर नियमित अपलोड किया जाएगा। सभी दानदाताओं को उनके दान की रसीदें मिलेंगी। आंतरिक ऑडिट रिपोर्ट हर तिमाही प्रकाशित होगी। हर वित्तीय वर्ष के आखिर में, ट्रस्ट से मंजूर किया गया पूरी तरह ऑडिट लेखा-जोखा सार्वजनिक किया जाएगा।

आस्था और पारदर्शिता परस्पर विरोधी नहीं, वे एक-दूसरे को मजबूती देती हैं। नकद लेन-देन न्यूनतम किया जाएगा। 5,000 रुपये से ज्यादा का हर भुगतान बैंक ट्रांसफर, चेक या दूसरे स्वीकृत डिजिटल तरीकों से होगा। भारत डिजिटल पेमेंट के मामले में दुनिया में आगे है। अयोध्या इस दिशा में मिसाल पेश करेगी।

ट्रस्ट का खाता विदेशी अंशदान (विनियमन) अधिनियम के अंतर्गत भी आता है। तो नियमों के पालन को लेकर कभी भी चिंता नहीं होनी चाहिए।

कुछ वर्षों तक एफसीआरए पंजीकृत एक गैर-सरकारी संगठन के सीईओ के तौर पर मैंने सुनिश्चित किया कि कानून के प्रत्येक प्रावधान पूरी तरह लागू हों। विदेशी अंशदान की प्राप्ति या उपयोग को लेकर कभी कोई प्रश्न नहीं उठा। हमने न तो कर चोरी को बढ़ावा दिया, न वित्तीय अनुशासनहीनता बर्दाश्त की। अयोध्या में भी इन्हीं मानकों का पालन होगा। मेरे प्रस्तावों का कतई यह अर्थ या संकेत नहीं है कि आप इन सिद्धांतों का पालन नहीं कर रहे हैं।

मैं व्यक्तिगत रूप से यह घोषणा करता हूं-

अगर कभी भी, मैं या मेरे परिवार का कोई सदस्य मंदिर का एक भी रुपया लेता पाया गया तो मैं कोई भी सजा भुगतने को तैयार हूं। एक बड़े राजनेता ने घोषणा की थी कि वह अपना वादा पूरा न कर पाए, तो वे जिंदा जलने को भी तैयार हैं। मैं ऐसा कोई वादा नहीं कर रहा। लेकिन इतना कहूंगाः पूजा-स्थल से चोरी करने वाला कोई भी हो, वह कानून और आस्था, दोनों का अपमान करता है।

मेरा एक बड़ा सपना भी है। भारत में मानवता के लिए ख्यात कुछ सर्वाधिक समृद्ध दार्शनिक परंपराएं मौजूद हैं। फिर भी, हिन्दू धार्मिक शिक्षा के क्षेत्र में ऐसा किसी संस्थान की कमी है, जो दूसरे धर्मों के बेहतरीन धार्मिक शिक्षण संस्थानों और विश्वविद्यालयों की बराबरी कर सके ।

हिन्दू समाज को हिन्दू दर्शन, धर्मशास्त्र और मंदिर अध्ययन केन्द्रित एक विश्व-स्तरीय विश्वविद्यालय क्यों नहीं स्थापित करना चाहिए?

> “अगर ट्रस्ट को सूचना के अधिकार के दायरे में लाया जाता है, तो मैं इसका स्वागत करूंगा। अगर ऐसा नहीं भी होता है, तब भी मैं स्वेच्छा से पारदर्शिता बनाए रखने को ही बेहतर मानूंगा”

इससे संस्कृत को वह सम्मान मिलेगा जिसकी हकदार है। हम संस्कृत के ऐसे विद्वान तैयार करेंगे जो महज श्लोक रटने के बजाय दुनिया के बेहतरीन विश्वविद्यालयों के साथ संवाद करने में सक्षम हों। तुलनात्मक धर्मशास्त्र को भी पाठ्यक्रम का हिस्सा बनाया जाना चाहिए।

स्वामी विवेकानंद ने दिखाया था कि किस तरह विभिन्न धार्मिक परंपराएं संवाद के जरिये परस्पर समृद्ध हो सकती हैं। मैं एक गैर-हिन्दू धार्मिक नेता को जानता हूं जिन्होंने श्रीनारायण गुरु पर अपनी डॉक्टरेट की। अब विद्वता की कोई धार्मिक सीमा तो होती नहीं।

अगस्त 2024 में अयोध्या मंदिर की अपनी यात्रा के दौरान मुझे काफी असुविधाएं झेलनी पड़ीं, क्योंकि किसी वीआईपी दौरे के कारण सड़कें बंद थीं। सुरक्षा संबंधी बातों का सम्मान ठीक, लेकिन यह भी जरूरी है कि आम तीर्थयात्री परेशान न हों।

संवैधानिक अधिकारियों और वीआईपी सुरक्षा वालों के लिए अलग प्रवेश की व्यवस्था होगी। इस श्रेणी में कौन-कौन लोग आएंगे, यह सार्वजनिक होगा और कितने भी बड़े क्यों न हों अन्य सभी लोगों को धैर्यपूर्वक लाइन में लगना होगा।

टेक्नोलॉजी का इस्तेमाल, बेवजह का इंतजार खत्म करा सकता है। कतार प्रबंधन प्रणाली से भक्तों को ठीक-ठीक पता चल सकता है कि उन्हें दर्शन के लिए कब आना चाहिए। तिरुपति में ऐसी व्यवस्था है, जिसे और बेहतर बनाया जा सकता है।

ट्रस्ट को ‘सूचना का अधिकार अधिनियम’ के दायरे में लाने का मैं स्वागत करूंगा। ऐसा नहीं भी हुआ, तब भी स्वेच्छा से पारदर्शिता अपनाने का समर्थन करूंगा। ईमानदार संस्थानों को कुछ भी छिपाने की जरूरत नहीं होती।

अंत में

मुझे न तो शोहरत चाहिए और न ही सत्ता। मेरी इच्छा बस इतनी है कि अयोध्या न सिर्फ तीर्थयात्रा का सबसे बड़ा केन्द्र बने, हिन्दू दर्शन, विद्वता और जन-सेवा का भी वैश्विक केन्द्र बनकर उभरे। यह सब करने के लिए मंदिर के पास पर्याप्त संसाधन हैं।

स्वामी जी, ये कुछ विचार हैं जो मैं आपके सामने रख रहा हूं। अगर आप मेरी नियुक्ति करते हैं, तो पूरी ईमानदारी से इन्हें लागू करने की कोशिश करूंगा। मुझे खुशी होगी अगर भविष्य का कोई सीईओ भगवान राम की महिमा बढ़ाने के लिए इनमें से कुछ सुझावों को अपनाता है।

आपका,
ए.जे. फिलिप

सौजन्य: इंडियन करेंट्स

हौसले के साथ एक अलग भविष्य की ओर

क्या भारत या अन्य देशों में लोकतंत्र के आदर्श को फिर से हासिल करने की इच्छा रखने वाले नागरिक जेल जाने का भय छोड़ने को तैयार हैं?

जी.एन. देवी

एक व्यंग्यकार ने लोकतंत्र को एक ऐसी ‘अफवाह’ करार दिया है जिसे अब तक गलत साबित नहीं किया जा सका है। आज के दौर में सचमुच ऐसा ही है-चिली, रूस, नाइजीरिया, मिस्र, अमेरिका और निश्चित रूप से, हमारे अपने देश में भी कमोबेश यही स्थिति है। पूरी दुनिया में लोकतंत्र-विरोधी भावना में तेज वृद्धि हुई है। वामपंथी विचारक इसे कॉरपोरेट द्वारा सत्ता पर कब्जे के रूप में देखते हैं। गांधीवादी इसे बेलगाम लालच की स्वाभाविक परिणति मानते हैं। नव-उदारवादियों के लिए, यह तकनीकी नैतिकता (‘पारदर्शिता’ और ‘तेज विकास’) और ‘लोकलुभावन’ आर्थिक अभियानों की ओर झुके राजनीतिक ढांचे के बीच का संघर्ष है। इनके अलावा भी व्याख्याएं हैं जो राष्ट्रों का नेतृत्व करने वाले व्यक्तियों के विकृत व्यक्तित्व लक्षणों को रेखांकित करती हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि इतने सारे देशों में एक साथ लोकतंत्र क्यों ढह रहा है?

स्पैनिश-अमेरिकी दार्शनिक-कवि जॉर्ज संतायाना (1863-1952) ने कभी कहा था कि दुनिया ‘नैतिक अवकाश पर’ है; उस तर्ज पर आज के संदर्भ में शायद यह कहना गलत नहीं होगा कि दुनिया ‘राजनीतिक अवकाश पर’ दिखती है। आदर्श लोकतंत्र में लोगों की इच्छाओं का अधिकतम प्रतिनिधित्व होता है; लेकिन इस आदर्श को साकार करने के लिए बनाई गईं संस्थागत प्रक्रियाएं लगातार आदर्श से फिसलती रहती हैं। भारत में, हमने एसआईआर प्रक्रिया में ऐसा होते देखा है, जो राष्ट्र का निर्माण करने वालों पर राज्य के अत्याचार के रूप में सामने आई है। जैसे-जैसे आदर्श और उसे हासिल करने के लिए बनाए गए तंत्र के बीच की दूरी बढ़ती है, प्रतिनिधित्व की जगह सत्तावादी वर्चस्व हावी होता जाता है। लोगों और उनके प्रतिनिधियों के बीच खोखली औपचारिकताएं जगह ले लेती हैं।

यह तर्कसंगत लग सकता है कि यदि इन औपचारिकताओं को बेनकाब किया जाए, खारिज किया जाए और किसी तरह अप्रासंगिक बना दिया जाए, तो समाज को उसकी मूल व्यवस्था में वापस लौटाया जा सकता है। लेकिन यह तर्क गलत है, क्योंकि प्रतिनिधित्व से जुड़ी औपचारिकताओं पर हमले इन प्रक्रियाओं के साथ-साथ उस आदर्श को भी कमजोर कर सकते हैं जिसे साकार करना उनका काम है। कहने का तात्पर्य यह है कि लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं पर हमले खुद लोकतंत्र को घायल करते हैं। और आदर्श को फिर से हासिल करना केवल विचलन को ठीक करने से संभव नहीं होगा, बल्कि मूल विचार को फिर से स्थापित करके ही संभव हो सकता है। इसलिए, नागरिक समाज को विचलन को उजागर करने से कहीं अधिक करना होगा, उसे सपने को फिर से स्पष्ट करना होगा; केवल कपटी औपचारिकताओं को दूर करने की उम्मीद नहीं करनी होगी बल्कि लोगों की दृष्टि को उम्मीदों के नए और उच्च क्षितिज तक उठाना होगा।

यह काम उस काम से अलग है जो मार्क्स ने उस वर्ग को सौंपा था जो समाज की महत्वपूर्ण चेतना बनने में सक्षम था। वास्तव में, यह कार्य किसी वर्ग द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता; इसे केवल वे व्यक्ति ही पूरा कर सकते हैं जो किसी भी वर्ग से जुड़े रहने से इनकार करते हैं। लोकतंत्र की पुनःस्थापना के लिए ऐसे लोक बुद्धिजीवियों की जरूरत है जो स्वयं को वर्ग, नस्ल, लिंग और सबसे बढ़कर, रोजमर्रा की घटनाओं के तात्कालिक आवेग से बाहर रख सकें। आज हमारे सामने मौजूद चुनौतियों से निपटने के लिए नागरिकों को उच्च स्तर का नैतिक साहस और निडरता दिखानी होगी। जो लोग लोकतंत्र को मूल्यवान मानते हैं, उन्हें यह जानना चाहिए कि इस आदर्श को जीवित रखने के लिए कोई भी कीमत अधिक नहीं।

जब दक्षिण अफ्रीकी कानून में व्यवस्था की गई कि सभी गैर-ईसाई विवाह अमान्य हैं, तो कस्तूरबा आगे आईं और 15 सितंबर 1913 को ट्रांसवाल सीमा पार करने वाले पहले महिला प्रतिरोध समूह का नेतृत्व किया। वह जेल जाने से नहीं डरीं। उनके निडर संकल्प के कारण भेदभावपूर्ण कानून को वापस लेना पड़ा। क्या भारत या अन्य देशों में लोकतंत्र के आदर्श को पुनः प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले नागरिक जेल जाने के अपने डर को छोड़ने के लिए तैयार हैं? क्या हम अपनी राजनीतिक छुट्टी से वापस आ सकते हैं, ताकि व्यवस्था का पर्दाफाश किया जा सके और भारत को उन खोखली प्रक्रियाओं से मुक्त कराया जा सके जिन्होंने इसके लोकतंत्र की जगह ले ली है?

*

हमें यह भी समझना होगा कि यदि इसे पुनर्जीवित कर भी दिया जाए, तो हमारा लोकतंत्र अपनी पुरानी स्थिति में वापस नहीं लौट सकता; अतीत को शत प्रतिशत नहीं उतारा जा सकता। इसे दुनिया में हो रहे बड़े बदलावों के प्रति संवेदनशील होने की जरूरत है। इंसानों को आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस और हमारे ग्रह पर गैर-मानवीय जीवन के साथ तालमेल बिठाना होगा।

> हमारे लोकतंत्र को उसकी पुरानी स्थिति में वापस नहीं लाया जा सकता। अतीत को शत प्रतिशत नहीं उतारा जा सकता। इसे दुनिया में हो रहे बड़े बदलावों के प्रति संवेदनशील होने की जरूरत है इस पर एक नए नज़रिये से फिर से सोचना होगा

हमें दुनिया, ग्रह और यहां तक कि ब्रह्मांड के एक अभिन्न अंग के रूप में लोकतंत्र पर पुनर्विचार करना चाहिए-जिसे अब ‘कॉस्मो-डेमोक्रेसी’ की कल्पना के रूप में व्यक्त किया जा रहा है। हमारे लिए बहुमत, या वयस्कों, या केवल इंसानों के अधिकारों से परे जाकर भी अधिकारों के बारे में सोचने का समय आ गया है। हमें सभी सीमांत समुदायों, सभी अल्पसंख्यकों, बच्चों और हमारे लिए ज्ञात गैर-मानवीय जीवन रूपों के अधिकारों का सम्मान और सुरक्षा करने के तरीके खोजने की जरूरत है। हमें एक अधिक व्यापक दृष्टि की आवश्यकता है जो उन सभी दुनिया को समायोजित करे जो निकट भविष्य में अस्तित्व में आ सकती हैं और अधिकारों की अधिक व्यापक भावना पैदा कर सके।

हमारी दुनिया को नए वायरस, नाटकीय पर्यावरणीय परिवर्तनों, आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस और प्रकृति के प्रति मानवीय उदासीनता, साथी इंसानों की पीड़ा तथा ग्रहीय पतन के संकेतों के प्रति हमारी असंवेदनशीलता से कम खतरा नहीं है।

निकट भविष्य में इंसानों को जो युद्ध लड़ने हैं, वे अभूतपूर्व हैं। दूसरी सहस्त्राब्दी की शुरुआत में हमने जो युद्ध लड़े, वे ज्यादातर आस्था-आधारित ‘क्रूसेड’ या जिहाद थे; उन्नीसवीं सदी में, वे जातीयता, भाषा या क्षेत्रीय दावों पर आधारित राष्ट्रवादी थे; बीसवीं सदी में, वे आर्थिक हितों के साथ जुड़ी विचारधाराओं से प्रेरित थे, चाहे वे फासीवाद, साम्यवाद या पूंजीवाद के कारण हुए हों। वर्तमान के क्षितिज पर जो युद्ध दिख रहे हैं, वे पर्यावरण के लिए या उसके साथ, प्राकृतिक विकास की ताकतों के साथ, गैर-मानवीय बुद्धिमत्ता के साथ और ऐसे जीवन तथा वस्तुओं के साथ होंगे जो पदार्थ और गति के एक अलग ढांचे से संबंधित हैं। अफसोस की बात है कि दुनिया भर की सरकारों की मानसिकता पुरानी दुनिया वाली है; वे आस्था-आधारित विभाजनों, क्षेत्रीय विवादों और संकीर्ण राष्ट्रवाद पर केन्द्रित बेहद पुरानी राजनीतिक विचारधाराओं की बंधक हैं।

यहां तक कि एक नई विश्व व्यवस्था के उद्भव के बारे में चर्चाएं भी पुराने मानदंडों का पालन करती हैं, और निरंकुश शासनों के विरोधी लोग किसी बीते हुए युग की काल्पनिक लालसा में डूबे दिखते हैं। हमें एक भिन्न भविष्य, लोकतंत्र के एक नए रूप, सरकार के एक ऐसे रूप की कल्पना करने की आवश्यकता है जिसमें सभी जीवन-रूपों, इंसानों के साथ-साथ मानव निर्मित बुद्धिमत्ता के एक वैश्विक समुदाय की कल्पना करने की संवेदनशीलता हो। समय तेजी से बीत रहा है। ■

जी.एन. देवी प्रख्यात भाषाविद, सांस्कृतिक कार्यकर्ता और लेखक हैं

गोमती को बचाने की शुरुआत कब?

इसमें नहाना तो दूर, उसके नजदीक टहलने से भी बीमारी। नदी तट के कथित विकास से भी प्राकृतिक रिवर सिस्टम पूरी तरह तबाह

पंकज चतुर्वेदी

अगर समय रहते गोमती को नहीं बचाया जा सका तो बहुत कुछ तबाह हो जाएगा

हो सकता है, आपके घर में होने वाले पूजा-पाठ में भी पंडित जी ने गंगा, गोदावरी, सरस्वती आदि के साथ गोमती नदी के पवित्र जल से संबंधित श्लोक पढ़ा हो जिसका मतलब है कि यह भारत की पांच दिव्य नदियों में है और इसमें स्नान करने से सारे पाप धुल जाते हैं। लेकिन सच यह है कि यह नदी हमारे समय की सबसे बड़ी पर्यावरणीय त्रासदी का जीवंत दस्तावेज बन चुकी है।

गोमती नदी उत्तर प्रदेश के पीलीभीत शहर से लगभग 30 किलोमीटर दूर माधोतंडा के मैनकोट के पास गोमत तला झील से निकलती है। इसे फुलहर झील के नाम से भी जाना जाता है। यह 941 किलोमीटर बाद वाराणसी के पास कैथी में गंगा में विलीन हो जाती है। इसने सदियों से इस पूरे भूभाग को जीवन प्रदान किया। लेकिन अपनी ही सहायक नदियों के सूखने, अनियंत्रित भूजल दोहन और औद्योगिक एवं घरेलू सीवेज के भयावह प्रदूषण के कारण यह नदी अपने अस्तित्व की अंतिम सांसें गिन रही है।

किसी भी मुख्य नदी का जीवन उसकी सहायक नदियों की जीवंतता पर निर्भर करता है। बाबासाहेब भीमराव आम्बेडकर विश्वविद्यालय, लखनऊ के पर्यावरण विभाग ने 2019 में ही इस नदी को लेकर अध्ययन किया था। इसमें ही यह बात कही गई थी कि गोमती की कुल 26 में से 22 सहायक नदियां पूरी तरह से सूख चुकी हैं। केवल सई, कल्याणी, खौटीना और बेहता जैसी कुछ नदियों में ही आंशिक प्रवाह बचा है, वह भी बेहद पतली धार के रूप में जबकि गच्छई, जोकनई, भैंसी, चुहा, अंडी, खौटीना, चितवा, गरेरा, सरायन, नाखा, अक्राड़ी, बेहता, कुकरैल, लोनी, असैना, रेत, कल्याणी, अराही, केंद्र, गोबारिया, सेवेई और पीली जैसी पारंपरिक जलधाराएं आज या तो पूरी तरह विलीन हो चुकी हैं या गंदे नालों और तालाबों के रूप में तब्दील हो गई हैं। जब नदी की 85 प्रतिशत से अधिक धमनियां मृत हो चुकी हों, तो मुख्य नदी के प्रवाह का सिमटना स्वाभाविक है। यही कारण है कि पिछले कुछ दशकों में गोमती का वार्षिक प्रवाह 60 फीसदी तक घट गया है, जिसने इसे एक बारहमासी नदी से बदलकर एक मौसमी नदी के कगार पर ला खड़ा किया है। 2019 के सात साल बाद कितनी दुर्दशा हुई होगी, इसका अंदाजा ही लगाया जा सकता है।

वैसे, इसके पीछे सबसे बड़ा कारण अंधाधुंध भूजल दोहन और जल पुनर्भरण की क्षमता में आई भारी गिरावट है। गोमती का मुख्य स्रोत कोई ग्लेशियर या बर्फ का पहाड़ नहीं है, बल्कि यह भूजल और वर्षा जल से पोषित होने वाली नदी है। मानसून के समय जब भारी वर्षा होती है, तो जमीन के नीचे के जलभृत, यानी एक्विफर रिचार्ज होते हैं, और यही भूजल वर्ष के बाकी महीनों में 'बेस फ्लो' के रूप में गोमती को जीवित रखता है। लखनऊ और इसके आसपास के 11 जिलों में गोमती के पानी का 76 प्रतिशत हिस्सा वास्तव में भूजल से आता है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि वर्ष 1984 से 2015 के बीच सहायक नदियों के बेसिन में भूजल स्तर पांच मीटर से लेकर अठारह मीटर तक नीचे चला गया है। यह गिरावट लगभग 47 प्रतिशत है, मतलब हम जमीन से जितना पानी निकाल रहे हैं, उसका आधा भी वापस जमीन में नहीं जा पा रहा है। कंक्रीट के बढ़ते जंगलों, तालाबों के अतिक्रमण और पारंपरिक जल संचयन प्रणालियों के नष्ट होने से वर्षा जल सीधे बहकर बर्बाद हो जाता है, जिससे भूजल पुनर्भरण ठप हो गया है। जब एक्विफर खाली हो गए, तो नदियों को नीचे से मिलने वाला पानी बंद हो गया और वे एक-एक कर सूखती चली गईं।

इसके पीछे हमारी विकासवादी अदूरदर्शिता का भी बड़ा हाथ रहा है। नदी तट विकास के नाम पर बनाए गए डायफ्राम वॉल और कंक्रीट के सुंदरीकरण ने गोमती के प्राकृतिक रिवर सिस्टम को पूरी तरह तबाह कर दिया। लखनऊ में नदी के बीच में 16 मीटर गहरी डायफ्राम वॉल बनाकर रीचार्ज क्षेत्र को नदी के मुख्य प्रवाह से पूरी तरह अलग कर दिया गया। इस कृत्रिम अवरोध के कारण नदी का अपने प्राकृतिक तटों और भूमिगत जल स्रोतों से संपर्क टूट गया। इसके परिणामस्वरूप नदी में पानी जमा तो दिखने लगा, लेकिन वह स्थिर और मृत पानी बन गया, जिसमें प्रवाह की स्वाभाविक गति समाप्त हो गई। किसी भी नदी में जब प्रवाह रुक जाता है, तो नदी की स्वतः स्वच्छ होने की क्षमता समाप्त हो जाती है और वह एक ठहरे हुए गंदे जलाशय में बदल जाती है। यही हश्र आज लखनऊ की गोमती का हो चुका है, जहां का पानी अब गहरे काले और मटमैले रंग में तब्दील हो गया है।

> गोमती की 26 में से 22 सहायक नदियां पूरी तरह से सूख चुकी हैं। यह बारहमासी से बदलकर एक मौसमी नदी बन गई है। 11 जिलों से गुजरते हुए गोमती में सैकड़ों बड़े नाले बिना किसी उपचार के सीधे गिरते हैं। लखनऊ में गोमती का पानी अब गहरे काले और मटमैले रंग में तब्दील हो गया है

नदी में गिरने वाले औद्योगिक कचरे और शहरी सीवेज ने भी गोमती को पूरी तरह से विषाक्त बना दिया है। पीलीभीत, शाहजानकारी, लखीमपुर, हरदोई, सीतापुर, लखनऊ, बाराबंकी, अयोध्या, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़ और जौनपुर जैसे 11 जिलों से गुजरते हुए गोमती में सैकड़ों बड़े नाले बिना किसी उपचार के सीधे गिरते हैं। इलाहाबाद हाई कोर्ट के पूर्व न्यायाधीश डी.पी. सिंह की अध्यक्षता में गठित समिति ने गोमती नदी की सफाई एवं प्रदूषण नियंत्रण से जुड़ी रिपोर्ट 31 मई 2019 को नेशनल ग्रीन ट्रिब्यूनल (एनजीटी) के सामने पेश की थी।

इस समिति ने गोमती के विभिन्न स्थलों से पानी के जो नमूने लिए, उनमें घुलित ऑक्सीजन, यानी डिजॉल्व्ड ऑक्सीजन की मात्रा शून्य पाई गई। जब ऑक्सीजन शून्य हो, तो नदी तकनीकी रूप से मृत हो जाती है। इसी वजह से समिति ने यह सख्त परामर्श जारी किया कि लोग गोमती के पानी में स्नान करना तो दूर, उसके नजदीक टहलने से भी बचें, क्योंकि इसकी सड़न और बदबू से लोग गंभीर रूप से बीमार हो सकते हैं। यह हमारी सामूहिक चेतना पर एक गहरा तमाचा है कि जिस नदी को हम पूजते हैं, उसका पानी आज छूने योग्य भी नहीं बचा है।

इन सबके पीछे प्रशासनिक उदासीनता, भ्रष्टाचार और राजनैतिक इच्छाशक्ति की कमी का एक लंबा इतिहास रहा है। पर्यावरण और नदियों की सुरक्षा सुनिश्चित करने का मुख्य दायित्व निभाने वाले राज्य प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड जैसी संस्थाएं पूरी तरह से मूकदर्शक बनी रहीं। उन्होंने प्रदूषण फैलाने वाले नगर निगमों, नगर पालिकाओं और औद्योगिक इकाइयों पर न तो कोई भारी हर्जाना लगाया और न ही उनके खिलाफ कठोर कानूनी कार्रवाई की। इसी कारण उच्च न्यायालय की समिति ने 2020 में पर्यावरण सुरक्षा अधिनियम 1986 के तहत दोषी अधिकारियों के विरुद्ध अभियोजन चलाने की संस्तुति की थी। इसके साथ ही, अनुपालन गारंटी के रूप में प्रदेश सरकार से 100 करोड़ रुपये जमा कराने और जल निगम, प्रदूषण बोर्ड और नगर निगमों-जैसे उत्तरदायी विभागों पर करोड़ों रुपये का पर्यावरणीय हर्जाना लगाने की सिफारिश की गई थी। लेकिन हम सब आम अनुभव से जानते हैं कि सीवेज ट्रीटमेंट प्लांट लगाने के दावे केवल कागजों पर सिमट कर रह गए हैं और उनकी वास्तविक परिचालन क्षमता अत्यंत दयनीय है, तो छह साल में दुर्दशा का स्तर क्या हो गया होगा।

गोमती को इस मरणासन्न स्थिति से उबारने का तरीका सिर्फ एक समग्र, वैज्ञानिक और नदी-केन्द्रित जल प्रबंधन योजना में छिपा है। सबसे पहले, गोमती की जीवन रेखा, यानी उसकी 22 सूखी सहायक नदियों को पुनर्जीवित करने के लिए एक युद्धस्तरीय अभियान चलाना होगा। जब तक इन सहायक नदियों में पानी की एक-एक बूंद नहीं लौटेगी, तब तक मुख्य गोमती नदी में प्राकृतिक प्रवाह को बहाल करना असंभव है। इसके लिए इनके जलग्रहण क्षेत्रों में वृक्षारोपण, तालाबों की खुदाई और अतिक्रमण हटाकर वर्षा जल संचयन को अनिवार्य बनाना होगा, ताकि भूजल स्तर को वापस ऊपर लाया जा सके।

इसके साथ ही, नमामि गंगे परियोजना के अंतर्गत सभी 11 जनपदों के जिलाधिकारियों को गोमती में गिरने वाले हर छोटे-बड़े नाले के सीवेज को शत-प्रतिशत उपचारित करने के बाद ही नदी में डालने का प्रबंध करना होगा। नगर विकास, पर्यावरण और सिंचाई विभागों को आपसी समन्वय के साथ एक निश्चित समय सीमा के भीतर एनजीटी और अदालतों के निर्देशों को धरातल पर उतारना होगा। जब तक नदी में गिरने वाले कचरे पर पूरी तरह रोक नहीं लगती, तब तक सफाई के सारे प्रयास निष्प्रभावी रहेंगे। भूजल की कमी से जलीय पारिस्थितिकी तंत्र पहले ही गंभीर रूप से प्रभावित हो चुका है और मछलियों जैसी कई प्रजातियां विलुप्त होने की कगार पर हैं।

गोमती नदी को बचाना अत्यंत जरूरी है, अन्यथा उत्तर प्रदेश के एक बड़े हिस्से का कृषि तंत्र, जलीय प्रजातियां, पक्षी और मानव स्वास्थ्य पूरी तरह तबाह हो जाएंगे। ■

विमर्श में संवेदना का क्षरण गंभीर संकट

सामान्य प्रवृत्ति बन गई है प्रश्नकर्ता को ही कठघरे में खड़ा कर देना

शैलेंद्र चौहान

फोटो : गेटी इमेजेज

नीट पेपर लीक और सरकार की जवाबदेही की मांग पर प्रधानमंत्री निवास पर धरना देते नेता प्रतिपक्ष राहुल गांधी और अन्य

समकालीन राजनीतिक भाष्य में लोकतंत्र को प्रायः केवल चुनावों तक सीमित कर दिया गया है। यह मान लिया गया है कि चुनाव जीत लेना ही लोकतांत्रिक वैधता का अंतिम प्रमाण है। जबकि लोकतंत्र की वास्तविक शक्ति केवल मतपेटियों में नहीं, बल्कि सार्वजनिक विवेक, निरंतर संवाद, असहमति के सम्मान और सत्ता की जवाबदेही में निहित होती है। जब समाज किसी प्रश्न पर विचार करता है, सरकार से उत्तर मांगता है, विपक्ष रचनात्मक आलोचना करता है, नागरिक निर्भय होकर अपनी असहमति व्यक्त करते हैं और मीडिया तथ्यों की निष्पक्ष पड़ताल करता है, तभी लोकतंत्र जीवंत और अर्थपूर्ण बना रहता है।

दुर्भाग्य से पिछले कुछ वर्षों में भारत ही नहीं, विश्व के अनेक लोकतांत्रिक देशों में सार्वजनिक विमर्श का चरित्र तेजी से बदला है। तथ्य, तर्क और प्रमाण की जगह धीरे-धीरे कुतर्क, भावनात्मक उत्तेजना और राजनीतिक ध्रुवीकरण ने ले ली है। तर्क का उत्तर प्रतितर्क से नहीं, बल्कि ऐसे कुतर्कों से दिया जा रहा है जिनका उद्देश्य सत्य की प्रतिष्ठा नहीं, बल्कि किसी भी प्रकार अपने पक्ष को सही सिद्ध करना है। परिणामस्वरूप सार्वजनिक बहस सत्य की खोज का माध्यम न रहकर राजनीतिक निष्ठाओं की प्रतिस्पर्धा में बदलती जा रही है।

यह संकट केवल राजनीतिक दलों तक सीमित नहीं है। इसका विस्तार मीडिया, सोशल मीडिया, बौद्धिक वर्ग और सामान्य नागरिकों तक हो चुका है। किसी गंभीर प्रश्न पर विचार करने के बजाय चर्चा शीघ्र ही आरोप-प्रत्यारोप, व्यक्तिपरक आक्षेप और विषयांतर में बदल जाती है। प्रश्न का उत्तर देने के स्थान पर प्रश्न पूछने वाले की नीयत, वैचारिक प्रतिबद्धता या राजनीतिक पहचान पर प्रश्न उठाए जाने लगे हैं। लोकतंत्र में प्रश्न पूछना नागरिक का अधिकार है, किंतु आज प्रश्नकर्ता को ही कठघरे में खड़ा कर देना एक सामान्य राजनीतिक प्रवृत्ति बन गई है।

समकालीन राजनीति का सबसे प्रचलित कुतर्क यह है कि वर्तमान की आलोचना का उत्तर अतीत की गलतियों से दिया जाए। यदि कोई नागरिक वर्तमान सरकार की किसी नीति, निर्णय या प्रशासनिक विफलता पर प्रश्न उठाता है, तो उत्तर मिलता है कि पिछली सरकारों ने भी यही किया था। यह उत्तर न तो वर्तमान प्रश्न का समाधान है और न ही लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व का निर्वाह। यदि अतीत में कोई त्रुटि हुई थी, तो उससे सीख लेकर बेहतर शासन देना वर्तमान सत्ता का दायित्व है। अतीत की भूल वर्तमान की भूल का औचित्य नहीं बन सकती।

तर्कशास्त्र में इस प्रवृत्ति को 'व्हाटअबाउटिज़्म' कहा जाता है। इसका उद्देश्य मूल प्रश्न का उत्तर देना नहीं, बल्कि उसका ध्यान दूसरी दिशा में मोड़ देना होता है। इससे मूल प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है। लोकतंत्र में उत्तरदायित्व का अर्थ अपने कार्यों का स्पष्टीकरण देना है, दूसरों की कमियों की सूची पढ़ना नहीं।

कुतर्क का दूसरा रूप प्रश्नकर्ता की वैधता पर आक्रमण करना है। यदि कोई मंदिरों के चंदे में कथित अनियमितताओं पर प्रश्न उठाए तो पूछा जाता है—₹क्या आपने चंदा दिया था?₹ यदि कोई किसान आत्महत्याओं पर दुख व्यक्त करे तो कहा जाता है—₹क्या आप किसान हैं?₹ यह तर्क नहीं, बल्कि नागरिक अधिकारों का निषेध है। नागरिकता का अर्थ ही है कि समाज के प्रत्येक प्रश्न पर विचार करने और प्रश्न पूछने का नैतिक अधिकार प्रत्येक नागरिक को प्राप्त है। विडंबना यह है कि कई बार प्रश्न उठाने वाले की नागरिक निष्ठा, देशभक्ति और वैधता तक को संदेह के घेरे में खड़ा कर दिया जाता है।

व्यक्तिपूजा ने इस संकट को और गहरा किया है। लोकतंत्र में नेता जनता के प्रतिनिधि होते हैं, किंतु जब किसी व्यक्ति को राष्ट्र, धर्म, संस्कृति या सभ्यता का पर्याय बना दिया जाता है, तब उसकी आलोचना को राष्ट्र-विरोध, धर्म-विरोध अथवा संस्कृति-विरोध के रूप में प्रस्तुत किया जाने लगता है। ऐसी स्थिति में सत्ता की जवाबदेही कमजोर पड़ती है और संस्थाएं व्यक्तियों के पीछे छिपने लगती हैं। जबकि लोकतंत्र का आधार व्यक्ति नहीं, संस्थाएं और संवैधानिक मूल्य होते हैं।

राजनीतिक विमर्श में संवेदना का क्षरण भी उतना ही गंभीर संकट है। किसी दुर्घटना, हिंसा, बलात्कार, आत्महत्या या सांप्रदायिक तनाव की घटना पर सबसे पहले यह नहीं पूछा जाता कि पीड़ित कौन है और उसे न्याय कैसे मिले, बल्कि यह देखा जाता है कि इससे किस राजनीतिक दल को लाभ या हानि होगी। मानव पीड़ा राजनीतिक गणित में बदल जाती है और संवेदना रणनीति में। यह किसी भी लोकतांत्रिक समाज के नैतिक स्वास्थ्य के लिए अत्यंत चिंताजनक स्थिति है।

नैतिक उत्तरदायित्व का लोप इस संकट का केन्द्रीय पक्ष है। लोकतंत्र में सत्ता का पहला दायित्व अपनी सफलताओं के साथ-साथ अपनी विफलताओं की जिम्मेदारी स्वीकार करना भी है। यदि कोई नीति असफल हो, प्रशासनिक चूक हो या कोई गंभीर दुर्घटना घटे, तो सरकार का दायित्व केवल सफाई देना नहीं, बल्कि आत्मालोचन और सुधार करना भी है। किंतु जब प्रत्येक विफलता का दोष विपक्ष, मीडिया, न्यायपालिका, नौकरशाही, विदेशी शक्तियों अथवा पूर्ववर्ती सरकारों पर डाल दिया जाता है, तब उत्तरदायित्व की भावना समाप्त होने लगती है। इसका परिणाम शासन की गुणवत्ता में गिरावट के रूप में सामने आता है।

इस पूरी प्रक्रिया में मीडिया की भूमिका निर्णायक है। पत्रकारिता का दायित्व सत्ता या विपक्ष का प्रचार करना नहीं, बल्कि तथ्यों की निष्पक्ष पड़ताल करना और जनता के प्रश्नों को सामने लाना है। किंतु जब मीडिया का एक हिस्सा राजनीतिक ध्रुवीकरण का सक्रिय माध्यम बन जाता है, तब वह लोकतांत्रिक विमर्श को समृद्ध करने के बजाय उसे और अधिक विषाक्त बना देता है। बहसें संवाद का मंच न रहकर शोर और आरोपों की प्रतियोगिता बन जाती हैं।

असहमति लोकतंत्र की कमजोरी नहीं, उसकी सबसे बड़ी शक्ति है। यदि हर आलोचना को शत्रुता और हर प्रश्न को षड्यंत्र मान लिया जाए, तो लोकतंत्र धीरे-धीरे केवल औपचारिक व्यवस्था बनकर रह जाता है। स्वस्थ लोकतंत्र वही है जहां सरकार की उपलब्धियों की सराहना भी हो और उसकी कमियों की निर्भीक आलोचना भी। दोनों में से किसी एक का अभाव लोकतांत्रिक संतुलन को नष्ट कर देता है।

आज आवश्यकता केवल राजनीतिक परिवर्तन की नहीं, बल्कि राजनीतिक संस्कृति के परिवर्तन की है। सरकारों को यह स्वीकार करना होगा कि आलोचना शासन का स्वाभाविक अंग है। विपक्ष को केवल विरोध नहीं, बल्कि रचनात्मक विकल्प प्रस्तुत करने होंगे। मीडिया को तथ्यों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता पुनः स्थापित करनी होगी। शिक्षण संस्थानों को आलोचनात्मक चिंतन का वातावरण विकसित करना होगा और नागरिकों को भी किसी सूचना पर विश्वास करने से पहले उसकी सत्यता की जांच करने की आदत विकसित करनी होगी।

> लोकतंत्र की ताकत बहुमत नहीं, बल्कि विवेक है। जिस दिन समाज प्रश्न पूछना छोड़ देगा और सत्ता उत्तर देना छोड़ देगी, उस दिन लोकतंत्र का बाहरी ढांचा भले सुरक्षित दिखाई दे, उसकी आत्मा क्षीण हो चुकी होगी

लोकतंत्र में सबसे बड़ा साहस सत्ता प्राप्त करना नहीं, बल्कि सत्य का सामना करना है। जिस राजनीति में प्रत्येक प्रश्न का उत्तर कुतर्क हो, प्रत्येक आलोचना का उत्तर आरोप हो और प्रत्येक विफलता का उत्तर अतीत की गलतियां हों, वहां लोकतांत्रिक चेतना धीरे-धीरे क्षीण होने लगती है। सत्य कभी शोर में नहीं मिलता। वह धैर्य, प्रमाण, संवाद और आत्मालोचन से प्राप्त होता है।

लोकतंत्र की सबसे बड़ी शक्ति बहुमत नहीं, बल्कि विवेक है। बहुमत सरकार बना सकता है, किंतु तर्क, नैतिकता और संवेदना ही लोकतंत्र को जीवित रखती हैं। जिस दिन समाज प्रश्न पूछना छोड़ देगा और सत्ता उत्तर देना छोड़ देगी, उस दिन लोकतंत्र का बाहरी ढांचा भले सुरक्षित दिखाई दे, उसकी आत्मा क्षीण हो चुकी होगी। इसलिए आज सबसे बड़ी आवश्यकता किसी एक दल की विजय नहीं, बल्कि तर्क की प्रतिष्ठा, तथ्य का सम्मान, संवेदना की पुनर्स्थापना और नैतिक उत्तरदायित्व की पुनर्प्राप्ति है। यही स्वस्थ लोकतंत्र की आधारशिला है और यही किसी भी सभ्य राजनीतिक संस्कृति का वास्तविक मानदंड है। ■

भारत संयुक्त राष्ट्र संघ में किसलिए वोट मांग रहा है?

सरकार के पास संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद की सीट के लिए दिखाने को सिर्फ कुछ मनगढ़ंत ऐक्रोनिम ही हैं

आकार पटेल

लोकतंत्र की जननी (भारत) संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में एक अस्थायी चुनी हुई सीट के लिए दावेदारी कर रही है। इसे 'अस्थायी' इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसका कार्यकाल सिर्फ दो साल का होता है, और 'चुनी हुई' इसलिए क्योंकि पांच स्थायी सदस्यों के साथ बैठने की इच्छा रखने वाले 188 सदस्य देशों के बीच 10 सीटें बांटी जाती हैं। इन 10 सीटों के साथ कोई वीटो पावर नहीं मिलती है। इसलिए, अगर चीन, अमेरिका, फ्रांस, रूस या यूके में से कोई भी देश किसी प्रस्ताव के खिलाफ हो, तो बाकी 14 देशों के वोट चाहे जो भी हों, वह प्रस्ताव खारिज हो जाता है।

लोकतंत्र की जननी पहले भी आठ बार चुनी जा चुकी है और पिछली बार 2021-22 में चुनी गई थीं। मुझे याद नहीं कि तब हमने क्या हासिल किया था और पक्का नहीं पता कि हम फिर से क्यों चुनाव लड़ रहे हैं, लेकिन तारीख से एक संकेत मिलता है। यह कार्यकाल 2028 और 2029 के लिए है, जिसका मतलब है कि अगले आम चुनाव के ठीक बीच में हमें होर्डिंग लगाने और यह दिखाने का मौका मिलेगा कि हम दुनिया के लिए कितने अहम हैं। कुछ साल पहले की जी-20 शिखर सम्मेलन की अध्यक्षता याद है न?

अगले साल जून में संयुक्त राष्ट्र में चुनाव होने हैं और एशिया-पैसिफिक ग्रुप (एशिया-प्रशांत समूह) में एक और उम्मीदवार है जिसे हमें हराना है (या जिससे नाम वापस करवाना है), और वह है ताजिकिस्तान। उसे 'ऑर्गनाइज़ेशन ऑफ़ इस्लामिक कॉन्फ्रेंस' (ओआईसी) के 56 वोटिंग सदस्यों का समर्थन हासिल है और एक ऐसे देश के तौर पर उसे सहानुभूति वाले वोट भी मिल सकते हैं जो अब तक एक बार भी नहीं चुना गया है।

चुनाव जीतने के लिए उम्मीदवार देश को कुल 193 सदस्य देशों में से दो तिहाई देशों का समर्थन चाहिए, यानी अगर सभी देश मौजूद हों और वोट दें, तो 129 वोटों की जरूरत होगी। गणित देखें तो ओआईसी के 56 वोटों में से एक भी वोट न मिलने पर भी हम जीत सकते हैं, लेकिन कहना मुश्किल है। हमें ताजिकिस्तान को पीछे हटने के लिए मनाने या अपने प्लैटफ़ॉर्म की अपील से मुस्लिम गुट को तोड़ने के लिए कोई न कोई जुगाड़ करना होगा।

तो हमारा मंच क्या है? जयशंकर के एक भाषण के जरिये इसकी घोषणा की गई। नए भारत में अधिकांश चीजों की तरह, संक्षिप्त नाम सबसे महत्वपूर्ण है। इस बार हमने 'शांति' (SHANTI) नाम दिया है, जिसका विस्तार सिक्यूरिंग एडवांसमेंट थ्रू नॉर्मस यानी 'मानदंडों, विश्वास और सत्यनिष्ठा के माध्यम से समग्र उन्नति सुनिश्चित करना' है। सुनने में यह बिल्कुल ऐसा लगता है जैसे हमारा चुनाव आयोग या दिल्ली पुलिस कुछ कहती है।

फोटो: ट्विटर इकाउंट

संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद की बैठक। इसे संबोधित करते विदेश मंत्री एस. जयशंकर

शांति (SHANTI) के छह तत्व हैं। पहला यह दावा है कि भारत 'ग्लोबल साउथ' की आवाज है। कैसे? कहां? यह तो नहीं बताया गया, लेकिन मान लेते हैं कि यह सच है। दूसरा है 'सुधारे गए मल्टीलेटरलिज़्म' (बहुपक्षवाद) की बात, जो असल में यह कहने का एक फैंसी तरीका है कि हमें संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में स्थायी सीट दी जाए।

तीसरा है शांति बनाए रखने का काम (पीसकीपिंग)। शायद पाठकों को पता न हो कि संयुक्त राष्ट्र की पीसकीपिंग फ़ोर्स में कुछ ही देशों का दबदबा है। इसमें सबसे बड़ा योगदान नेपाल का है, और उसके बाद भारत, बांग्लादेश, रवांडा और पाकिस्तान का नंबर आता है। लेकिन जैसाकि जयशंकर कहते हैं कि भारत पीसकीपिंग को 'भविष्य के लिए तैयार' बनाएगा।

"इसका मतलब है बेहतर ढंग से तैयार होना, टेक्नोलॉजी से लैस होना, असल में ज़रूरी काम सौंपे जाना और मुख्य लक्ष्यों पर ध्यान देना।" शायद इसका मतलब यह है कि हम आधार कार्ड जारी करेंगे।

चौथा है आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (एआई), जहां हमारी भूमिका साफ नहीं है क्योंकि एआई क्षमताएं सिर्फ़ अमेरिका और चीन के पास ही हैं। जयशंकर बताते हैं कि यहां एआई या आई का तात्पर्य एक और एक्रोनिम (संक्षिप्त नाम) है। वह कहते हैं, "भारत ने एआई का एक ऐसा विजन पेश किया है जो इंसानों पर केन्द्रित है और जो अपनी क्षमताओं के साथ-साथ भारत की परंपराओं पर भी आधारित है। इसके लिए हमारा शब्द है 'MANAV' (मानव), यानी मॉरल एंड एथिकल सिस्टम्स, अकाउंटेबिल गवर्नेंस, नेशनल सोवरीनिटी, एक्सेसेबिल एंड इन्क्लूसिव यानी जो इन चीजों का एक्रोनिम है: नैतिक और सदाचारी सिस्टम, जवाबदेह गवर्नेंस, राष्ट्रीय संप्रभुता, सुलभ और समावेशी, और वैध और जायज सिस्टम।"

> भारत ने इसराइल को वे बम बेचे जिनसे गाज़ा के बच्चों के हाथ-पैर कट गए, और अब वह उन्हें कृत्रिम अंग देने का वादा कर रहा है

पांचवीं बात समुद्री व्यवस्था की है, यानी ईरान को होर्मुज की नाकेबंदी बंद कर देनी चाहिए। छठी बात आतंकवाद की है, जो हमारा सबसे पसंदीदा विषय है। जयशंकर कहते हैं, ₹हमारा संकल्प आतंकवाद को मिलने वाली फंडिंग को रोकने पर ध्यान केन्द्रित करना है।" यह सच नहीं है। भारत पर अपनी सितंबर 2024 की 'म्यूचुअल इवैल्यूएशन रिपोर्ट' में, फाइनेंशियल एक्शन टास्क फोर्स (एफएटीएफ) ने भारत को केवल ₹आंशिक रूप से अनुपालन करने वाला₹ माना, क्योंकि सरकार को एनजीओ पसंद नहीं हैं—जिसके बारे में मैंने पहले भी यहां लिखा है।

हमारा प्लेटफ़ॉर्म इन छह चीजों पर आधारित है। हो सकता है कि दुनिया हमारे इस शानदार घोषणापत्र को हमें वोट देने के लिए पर्याप्त माने। लेकिन हमें अपने समय के दो बड़े, आपस में जुड़े हुए और वैश्विक मुद्दों पर भी ध्यान देना होगा: ईरान में चल रहा गैर-कानूनी युद्ध, जिसका असर सब पर पड़ रहा है, और फ़िलिस्तीन में हो रहा नरसंहार।

पहली बात पर हमारे पास कहने के लिए कुछ नहीं है क्योंकि हम ट्रंप के खिलाफ बोलने से डरते हैं और हमने युद्ध शुरू होने से कुछ घंटे पहले ही इसराइल से एक मेडल स्वीकार किया था। दूसरी बात पर, यह ज़रूरी समझते हुए कि इसका ज़िक्र किया जाए, जयशंकर ने अपने भाषण में कहा: ₹हमने कल ही ब्रुसेल्स में फ़िलिस्तीन डोनर ग्रुप की बैठक में फ़िलिस्तीन के लिए एक स्पेशलिटी हॉस्पिटल, कृत्रिम अंग लगाने का केन्द्र और एक वोकेशनल ट्रेनिंग इंस्टीट्यूट बनाने का अतिरिक्त वादा किया है।₹ लेकिन निस्संदेह, फ़िलिस्तीन के मामले में हमारा असली रिकॉर्ड किसी से छिपा नहीं हैं।

गाज़ा पर इसराइल की बमबारी रोकने की मांग करने वाली वोटिंग में भारत शामिल नहीं हुआ। फ़िलिस्तीनियों के ख़िलाफ़ नरसंहार और रंगभेद के बावजूद, सिर्फ़ एक देश ने अपनी मर्ज़ी और पूरे जोश के साथ इसराइल का साथ दिया है, और वह देश भारत है। जर्मनी ऐसा ऐतिहासिक अपराध-बोध के कारण करता है, और अमेरिका इसराइल लॉबी की वजह से। सिर्फ़ भारत ने ही यह तय किया है कि वह फ़िलिस्तीनियों से इतनी नफ़रत करता है कि इसराइल से प्यार करने लगा है।

जैसा कि मेरे संगठन 'एमनेस्टी इंटरनेशनल' ने पिछले हफ़्ते बताया, भारत इसराइल को हथियार भेज रहा है, जिनमें वॉरहेड और दूसरे ऐसे हथियार शामिल हैं जिनका इस्तेमाल फ़िलिस्तीनी बच्चों के ख़िलाफ़ किया जाता है। 'लोकतंत्र की जननी' ने इसराइल को वे बम बेचे जिनसे गाज़ा के बच्चे-बच्चियों के हाथ-पैर कट गए, और अब वही 'जननी' भविष्य में उन्हें कृत्रिम अंग देने का वादा कर रही है।

एमनेस्टी की रिपोर्ट पर प्रतिक्रिया देते हुए सरकार ने कहा: "भारत के पास रणनीतिक व्यापार नियंत्रण के लिए एक मजबूत कानूनी और नियामक ढांचा है और वह दोहरे इस्तेमाल वाली वस्तुओं और तकनीकों का निर्यात विभिन्न देशों को अपने राष्ट्रीय कानूनों और अंतरराष्ट्रीय दायित्वों के अनुरूप करता है।" इसका मतलब है कि हम बम भेजना जारी रखेंगे।

इसलिए, दुनिया के सभी देशों से गुज़ारिश है कि वे 'लोकतंत्र की जननी' के लिए वोट करें, क्योंकि जैसा कि जयशंकर ने अपने संबोधन में कहा, "भारत 'वसुधैव कुटुंबकम' की सोच को अपनाता है; हम सिर्फ़ उपदेश नहीं देते, बल्कि इसे अमल में भी लाते हैं।" ■

सऊदी से सीखें कूटनीति का ककहरा

पश्चिम एशिया में सऊदी अरब के संयम से भारत रणनीतिक यथार्थवाद के बारे में क्या सीख सकता है?

अशोक स्वैन

सऊदी अरब ने ईरान के साथ संभावित टकराव की तैयारियों में दशकों बिताए हैं। उसने पश्चिम से दुनिया के सबसे अत्याधुनिक हथियार खरीदे, अमेरिका के साथ मजबूत सुरक्षा साझेदारी की और पूरे पश्चिमी एशिया में प्रभाव जमाने के लिए तेहरान से सीधी होड़ ली। फिर भी, जब ईरान के खिलाफ अमेरिकी सैन्य कार्रवाई से यह इलाका बेहद संवेदनशील और अस्थिर हो चुका है, तब भी सऊदी अरब इस युद्ध में सीधे भागीदार के रूप में दिखने से पूरी तरह बच रहा है। यह सावधानी उसने इसके बाद भी बरती है कि परमाणु शक्ति संपन्न पाकिस्तान के साथ 2005 में वह एक 'रणनीतिक रक्षा समझौता' कर चुका है। यह रुख सऊदी अरब की किसी दुविधा या कमजोरी का संकेत नहीं है, बल्कि सैन्य ताकत की व्यावहारिक सीमाओं की स्पष्ट समझ से उपजा रणनीतिक यथार्थवाद है।

सऊदी क्राउन प्रिंस मोहम्मद बिन सलमान उस कड़वी हकीकत को समझ रहे हैं जिसे अमेरिका, इसराइल और यहां तक कि संयुक्त अरब अमीरात (यूएई) भी नजरअंदाज कर रहे हैं। अमेरिका और इसराइल मिलकर ईरान के कुछ सैन्य ठिकानों, ऊर्जा संयंत्रों और नागरिक बुनियादी ढांचे को तबाह तो कर सकते हैं, लेकिन बड़े पैमाने पर तबाही मचाना राजनीतिक जीत हासिल करना नहीं होता। इनमें से किसी भी देश के पास 9 करोड़ से अधिक आबादी वाले ईरान में सत्ता परिवर्तन कराने की कोई व्यावहारिक योजना नहीं है- एक ऐसा विशाल देश जिसकी अपनी ऐतिहासिक शासन परंपरा है और जिसमें किसी भी हमले का अप्रत्याशित जवाब देने की पूरी क्षमता है।

इस युद्ध ने एक बार फिर साबित कर दिया है कि किसी देश को तबाह करने की क्षमता और उस पर रणनीतिक नियंत्रण हासिल करने के बीच बड़ा फासला होता है। हथियार डालने के बजाय, ईरान ने पूरे इलाके में मौजूद अमेरिकी ठिकानों और हितों पर हमले किए हैं, समुद्री व्यापारिक मार्गों को बाधित किया है और इराक, लेबनान तथा यमन में अपने सहयोगी सशस्त्र गुटों को सक्रिय कर दिया है।

सऊदी अरब इस युद्ध के गंभीर परिणामों के बिल्कुल मुहाने पर खड़ा है। उसके तेल संयंत्र, डीसैलिनेशन प्लांट, बंदरगाह, हवाई अड्डे, बिजली नेटवर्क और नए डेटा सेंटर ईरान के लिए आसान निशाने हैं। सितंबर 2019 में हूती विद्रोहियों द्वारा अबकैक और खुरैस तेल सुविधाओं पर किए गए हमले सऊदी अरब के लिए कभी न भूलने वाली चेतावनी थे। अपेक्षाकृत सस्ते ड्रोन और मिसाइलों ने सऊदी अरब के लगभग आधे तेल उत्पादन को अस्थायी रूप से ठप कर दिया था। अत्याधुनिक लड़ाकू विमानों और वायु रक्षा प्रणालियों पर अरबों डॉलर खर्च करने के बाद भी सऊदी अरब अपने बुनियादी ढांचे को सुरक्षित नहीं कर सका।

मौजूदा युद्ध ने उस असुरक्षा को और गहरा कर दिया है। ईरान और उसके सहयोगी कई दिशाओं से सऊदी अरब पर हमला कर सकते हैं। ईरानी मिसाइलें और ड्रोन खाड़ी पार कर सकते हैं; इराक के सशस्त्र गुट उत्तर से प्रहार कर सकते हैं; और हूती विद्रोही यमन से हमला करने के साथ-साथ बाब अल-मंदब जलडमरूमध्य में जहाजों की आवाजाही रोक सकते हैं। सऊदी अरब को एक विशाल भूभाग और दो लंबी समुद्री तट रेखाओं की रक्षा करनी है। बेहद आधुनिक हथियारों से लैस सेना भी चारों तरफ से होने वाले लगातार हमलों के आगे पूरी तरह अभेद्य ढाल नहीं बन सकती।

सऊदी अरब ने यमन में हूतियों के खिलाफ सात साल (2015 से 2022) तक लड़ाई लड़ी, लेकिन उन्हें सत्ता से हटाने में नाकाम रहा। यमन भीषण मानवीय संकट की गर्त में धकेल दिया गया और सऊदी अरब का अपना इलाका हूती हथियारों की जद में बना रहा। उस कड़वे अनुभव ने इस भ्रम को चकनाचूर कर दिया कि केवल हवाई हमलों के दम पर स्थायी राजनीतिक नतीजे हासिल किए जा सकते हैं। ईरान से सीधे युद्ध का अंजाम इससे भी ज्यादा भयानक होगा और रियाद इसे अच्छी तरह समझता है।

हालात के इसी जमीनी आकलन के चलते मोहम्मद बिन सलमान ने 2 अगस्त को अमेरिकी राष्ट्रपति को फोन किया था। खबरों के मुताबिक, एमबीएस ने ईरान के ऊर्जा ठिकानों पर नए हमले की अमेरिकी योजनाओं पर गहरी चिंता जताई और अमेरिकी राष्ट्रपति से तनाव घटाने का आग्रह किया। सऊदी अरब के आधिकारिक बयानों में लगातार बातचीत और कूटनीतिक समाधानों पर जोर दिया गया है ताकि इलाके को किसी बड़े युद्ध की आग में जलने से बचाया जा सके।

सऊदी अरब के इस रुख को कोई शांतिवादी आदर्शवाद मानने की भूल नहीं की जानी चाहिए- उसका यह कदम पूरी तरह रणनीतिक है, न कि अहिंसावादी। यही वजह है कि उसका यह संयम और भी ज्यादा ध्यान देने योग्य हो जाता है। सऊदी नेतृत्व इसलिए शांति की अपील नहीं कर रहा कि उसे ईरान पर भरोसा है या उसे युद्ध से नफरत है। उनके इस पूरे गणित के केंद्र में है मोहम्मद बिन सलमान का 'विजन 2030' का मास्टरप्लान-सऊदी अरब को केवल तेल पर निर्भर देश के बजाय तकनीक, पर्यटन, मनोरंजन और रसद के वैश्विक केन्द्र में बदलने का उनका वादा। इस महत्वाकांक्षी परियोजना के लिए राजनीतिक स्थिरता पहली शर्त है। विदेशी निवेशक उन रिसॉर्ट्स, औद्योगिक क्षेत्रों, डिजिटल इंफ्रास्ट्रक्चर और आधुनिक शहरों में अपनी पूंजी नहीं लगाएंगे, जहां मिसाइल हमले बिना चेतावनी हवाई अड्डों को बंद कर दें, ऊर्जा संयंत्रों को तबाह कर दें या जहाजों की आवाजाही रोक दें।

लंबे खिंचते युद्ध से सऊदी अरब पर वित्तीय दबाव भी बढ़ना तय है। तेल की बढ़ती कीमतें अस्थायी रूप से राजस्व बढ़ा सकती हैं, लेकिन अगर उत्पादन संयंत्र या निर्यात मार्ग ही क्षतिग्रस्त हो जाएं तो यह फायदा तुरंत हवा हो जाता है। होर्मुज जलडमरूमध्य में बाधा उत्पन्न होने के कारण सऊदी अरब को पहले ही अपनी पूर्व-से-पश्चिम पाइपलाइन और लाल सागर टर्मिनलों पर निर्भर होना पड़ा है।

संयुक्त सैन्य अभ्यास के दौरान सऊदी और अमेरिकी सेनाएं

> भारत युद्ध को रोक तो नहीं सकता, लेकिन तनाव कम करने के लिए सऊदी अरब, ओमान, कतर, तुर्की और दूसरे देशों के साथ मिलकर काम कर सकता है

रियाद यह भी जानता है कि अमेरिका किसी संघर्ष को भड़काकर तो निकल सकता है, लेकिन उसके बाद पैदा होने वाले लंबे संकट की जिम्मेदारी लेने से पीछे हट जाता है। अमेरिकी सेनाएं हमला करके वापस लौट सकती हैं, जबकि सऊदी अरब को ईरान के पड़ोस में ही रहना है, इराक और यमन के साथ दैनिक संबंधों को संभालना है और अपने व्यापारिक मार्गों की हर दिन रक्षा करनी है। भूगोल सऊदी अरब की रणनीति पर एक अनुशासन थोपता है।

वर्ष 2023 में चीन की मध्यस्थता से ईरान के साथ हुआ संबंधों को सुधारने का समझौता इसी रणनीतिक यथार्थवाद की शुरुआती अभिव्यक्ति था। उसने सऊदी-ईरान प्रतिद्वंद्विता को खत्म तो नहीं किया, लेकिन कूटनीतिक बातचीत के रास्ते खोल दिए और संकटों को टालने का एक तंत्र जरूर दिया।

भारत को सऊदी अरब के इस दृष्टिकोण का गहराई से अध्ययन करना चाहिए। खाड़ी क्षेत्र में भारत के आर्थिक और सुरक्षा हित बहुत गहरे जुड़े हैं। ऊर्जा आवश्यकताओं, उर्वरक आपूर्ति और समुद्री व्यापार के लिए भारत काफी हद तक इस इलाके पर निर्भर है। लाखों भारतीय खाड़ी देशों में काम करते हैं और देश में अपने परिवारों को धन भेजते हैं जिससे उनका गुजारा होता है। होर्मुज जलडमरूमध्य के प्रभावित होने से ऊर्जा और माल ढुलाई की लागत बढ़ गई है, जबकि उर्वरक आपूर्ति में रुकावट से भारतीय किसानों और खाद्य पदार्थों की कीमतों पर सीधा खतरा मंडरा रहा है।

नई दिल्ली के पास इस युद्ध को इसराइल के साथ एकजुटता दिखाने या संयुक्त अरब अमीरात के आक्रामक रुख के साथ खुद को जोड़ने के अवसर के रूप में देखने का कोई तर्कसंगत कारण नहीं है। भारत अकेले इस युद्ध को नहीं रोक सकता, लेकिन वह सऊदी अरब, ओमान, कतर, तुर्की और अन्य देशों के साथ मिलकर क्षेत्रीय तनाव को कम करने की दिशा में पहल कर सकता है। वह तेहरान के साथ सीधा संपर्क बनाए रख सकता है और वाशिंगटन से कूटनीतिक रास्ता अपनाने का आग्रह कर सकता है। भारत की मौजूदा चुप्पी और एकतरफा झुकाव उसके रणनीतिक प्रभाव को नुकसान पहुंचा रहा है, जबकि इस युद्ध की आर्थिक कीमत भारतीय उपभोक्ताओं, कामगारों और कारोबारियों को चुकानी पड़ रही है। ■

अशोक स्वैन स्वीडन की उप्साला यूनिवर्सिटी में पीस एंड कॉन्फ्लिक्ट रिसर्च के प्रोफेसर हैं

वो दिन हवा हुए जब पसीना गुलाब था

राहुल को बार-बार 'याद' दिलाना कि 'आप नेता प्रतिपक्ष हैं' मोदी सरकार के किसी काम नहीं आने वाला

कृष्ण प्रताप सिंह

राहुल गांधी पर सत्तापक्ष और पीठासीन अधिकारी की ओर से की जाने वाली टिप्पणियां बताती हैं कि नेता प्रतिपक्ष का डर उनके दिमाग में किस कदर बैठ गया है

राहुल जी, आप प्रतिपक्ष के नेता हैं। यह सदन नियमों, परंपराओं और मर्यादाओं से चलता है। इसका ध्यान रखते हुए बोलिए।' इधर यह एक अघोषित-सा नियम कहें या परंपरा हो गई है कि प्रतिपक्ष के नेता राहुल गांधी लोकसभा में जब भी किसी महत्वपूर्ण मसले पर बोलने के लिए खड़े होते हैं, सत्तापक्ष जानबूझकर बाधाएं उत्पन्न करना शुरू कर देता है और स्पीकर ओम बिरला शब्दों के हेर-फेर से उपर्युक्त 'आप्तवाक्य' दोहराने लग जाते हैं।

सत्ता पक्ष के मगन हो जाने के लिए इतना काफी होता है। सो, वह उनके सुर में सुर मिलाकर प्रतिपक्ष के धैर्य को आजमाने के लिए हद से गुजरने लग जाता है। कई बार दोनों का मिला-जुला सुर ऐसी स्थितियां पैदा करने लग जाता है कि राहुल खुद पर उनका अंकुश महसूस करने लगें और अपनी बात कहने से रह जाएं। यह तो राहुल का जीवट है कि वह ऐसे किसी भी अंकुश को अपने पास फटकने नहीं देते।

लेकिन यह सब, इस लिहाज से बहुत अजीब लगता है कि 2014 में देशवासियों के नरेन्द्र मोदी के 'महानायकत्व' से दो चार होने से पहले तक ऐसे अंकुश सत्ता पक्ष के विरुद्ध विपक्ष के हथियार हुआ करते थे। मगर अब सत्ता पक्ष अपने संख्याबल के गुमान में विपक्ष से आगे बढ़कर इसे उसकी और उसके नेताओं की आवाज दबाने, उनका अपमान और अनादर करने के लिए इस्तेमाल करने लगा है।

स्पीकर के रवैये से लगता है कि उन्होंने गत 10 फरवरी को विपक्ष द्वारा उनके खिलाफ लाए गए अविश्वास प्रस्ताव से भी कोई सबक नहीं लिया है। वह समझते हैं कि 11 मार्च को सत्तापक्ष के संख्याबल के सहारे उस प्रस्ताव को गिरा दिए जाने के साथ ही बात पूरी तरह खत्म हो गई है और उनको अपना रवैया बदलने की कोई जरूरत नहीं है।

ऐसा नहीं होता तो वे बार-बार कुछ इस तरह राहुल को उनका विपक्ष का नेता होना क्यों याद दिलाते, जिससे लगने लगे कि उनकी निगाह में राहुल इतने अबोध या नादान हैं कि अपने पद की जिम्मेदारियों और सदन की गरिमा और मर्यादाओं को न समझते हैं, न ही उनके प्रति गंभीर हैं और इस कारण उनको संकटग्रस्त करते रहते हैं? प्रधानमंत्री को तो कभी याद नहीं दिलाते कि वह प्रधानमंत्री हैं और इस नाते सदन के नियमों, परंपराओं और मर्यादाओं का अनुपालन सुनिश्चित करने की सबसे बड़ी जिम्मेदारी उन्हीं की है।

राहुल को इस जिम्मेदारी के निर्वहन से रोकने के प्रयासों की इंतिहा यह है कि गत फरवरी में लोकसभा के बजट सत्र में राष्ट्रपति के अभिभाषण पर धन्यवाद के प्रस्ताव पर उनको इस बहाने नहीं बोलने दिया गया कि वह राष्ट्रीय सुरक्षा से जुड़े मुद्दे पर जनरल नरवणे की अप्रकाशित आत्मकथा और एक पत्रिका की रिपोर्ट का जिक्र कर रहे थे। तब उनको स्पीकर से यह तक कहना पड़ गया था कि 'फिर आप ही बताइए, मैं क्या बोलूं।' इससे पहले देश के संसदीय इतिहास में लोकसभा में प्रतिपक्ष के किसी भी नेता के साथ कभी ऐसा सलूक नहीं हुआ।

अभी 29 जुलाई को जब वह पेपर लीक को लेकर जंतर-मंतर पर छात्रों के लंबे आंदोलन, संसद मार्च, उस पर क्रूरतापूर्वक बल प्रयोग और शिक्षामंत्री धर्मेंद्र प्रधान के इस्तीफे के बाद लाए गए सार्वजनिक परीक्षा (अनुचित साधनों की रोकथाम) संशोधन अधिनियम पर बहस में सरकार को खरी-खरी सुनाकर जवाबदेह होने को कह रहे थे, तब सत्तापक्ष द्वारा ऐसी स्थिति पैदा कर दी गई कि वह यह कहते हुए अपनी सीट पर बैठ गए कि 'अगर आप चाहते हैं कि इस देश में सिर्फ भाजपा ही बोले, तो मैं चुप होकर बैठ जाता हूं।' उनकी 'गलती' सिर्फ यह थी कि वह सरकार को आईना दिखाकर आंदोलनकारी छात्रों पर गोली चलवाने वाले गृहमंत्री अमित शाह से इस्तीफे और प्रधानमंत्री से छात्रों से माफी मांगने की मांग कर रहे थे।

यों, उनका 'सबसे बड़ा गुनाह' यह बताया गया कि उन्होंने अपने भाषण में 'इंडियट' और 'अंधभक्त' जैसे असंसदीय शब्दों का इस्तेमाल किया। अगले दिन भाजपा सांसद अनुराग ठाकुर ने यह तोहमत लगाकर कि राहुल ने अपने भाषण के दौरान देश के नागरिकों के एक वर्ग के लिए उक्त असंसदीय शब्दों का उपयोग किया और गृहमंत्री अमित शाह पर बेबुनियाद आरोप लगाए, विशेषाधिकार हनन प्रस्ताव का नोटिस भी दे डाला। यह तब था, जब राहुल ने अपने भाषण में ही साफ कर दिया था कि वह ईडियट और अंधभक्त शब्दों का किसी के खिलाफ नहीं, छात्रों की कोटियां बताने भर के लिए इस्तेमाल कर रहे हैं। जहां तक आंदोलनकारी छात्रों से दिल्ली पुलिस की क्रूरता की बात है, वह अपनी बात पर कायम हैं कि उसके लिए सीधे-सीधे गृहमंत्री जिम्मेदार हैं। इसलिए धर्मेंद्र प्रधान की तरह उनको भी इस्तीफा दे देना चाहिए, क्योंकि दिल्ली पुलिस उनके ही अधीन है। साथ ही प्रधानमंत्री को, जो कुछ भी हुआ, उसके लिए माफी मांगनी चाहिए।

> सत्ताधीशों को इतना भी नहीं समझ में आता कि प्रतिपक्ष के नेता रहते हुए राहुल राष्ट्रीय महत्व के बुनियादी मुद्दों या कि देश की सुरक्षा अथवा किसी अन्य संवेदनशील मामले पर नहीं, तो भला किस मुद्दे पर बोलेंगे और बोलने का कोई मतलब ही नहीं रह जाएगा, तो क्यों कर बोलेंगे?

लेकिन अफसोस कि यह सरकार इस विडंबना की शिकार है कि उसका नैतिकबोध बहुत मंद है। धर्मेंद्र प्रधान के मामले में भी उसकी नैतिकता तब तक नहीं जागी, जब तक पानी सिर से ऊपर और छात्रों का गुस्सा काबू से बाहर नहीं हो गया।

बहरहाल, राहुल को बोलने से रोकने के लिए कभी जनरल नरवणे की आत्मकथा के उद्धरण को बहाना बना दिया जाता है और कभी किसी 'असंसदीय' शब्द का प्रयोग करने को। ये बहाने कितने भेदभावपूर्ण ढंग से बरते जाते हैं, इसको इस बात से समझा जा सकता है कि प्रधानमंत्री अपने भाषण में किसी पुस्तक का उद्धरण देते हैं, तो उनको नहीं रोका जाता। न ही नियम कायदे याद दिलाए जाते हैं। राहुल के बुद्धि- विवेक और उम्र वगैरह पर सर्वथा अशोभनीय बातें कहते और निजी हमले करते हैं, तो भी नहीं। भाजपा सांसद निशिकांत दुबे देश के पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू तक को लांक्षित करने के लिए असंसदीयता की सारी सीमाएं लांघ जाते हैं, तो भी उन्हें अभय किए रखा जाता है।

सत्ताधीशों को इतना भी नहीं समझा जाता कि प्रतिपक्ष के नेता रहते हुए राहुल राष्ट्रीय महत्व के बुनियादी मुद्दों या कि देश की सुरक्षा अथवा किसी अन्य संवेदनशील मामले पर नहीं तो भला किस मुद्दे पर बोलेंगे और बोलने का कोई मतलब ही नहीं रह जाएगा, तो क्योंकर बोलेंगे?

लेकिन अब वे इसमें सफल नहीं होने वाले क्योंकि देशवासी भी समझ गए हैं कि सत्ताधीशों के दिल और दिमाग में गहरे तक समा चुका राहुल का डर है। देशवासियों के जीवन-मरण से जुड़े मुद्दों पर राहुल द्वारा लिए जाते रहे दूरदर्शी स्टैंड की यह बड़ी सफलता है कि प्रधानमंत्री और गृहमंत्री समेत समूचा सत्ता पक्ष सदन में भी और उसके बाहर भी उनके सवालों का सामना करने का आत्मविश्वास गंवा बैठे हैं।

यहां यह भी याद रखना चाहिए कि इंडिया गठबंधन की पिछली बैठक में सबसे पहले राहुल ने ही मोदी सरकार के प्रतिरोध की बात शुरू की थी और कहा था कि उससे लड़ने में परंपरागत तरीके काम नहीं आने वाले। इसके कुछ ही दिनों बाद जंतर-मंतर पर पीड़ित जेन जी कहें या छात्रों द्वारा गैर-परंपरागत तरीकों से प्रतिरोध किया जाने लगा तो सरकार के हाथ-पांव इस तरह फूल गए कि उनके संसद मार्च के दौरान उसे कुछ करना सूझा तो यही कि उनसे दुश्मनों की तरह निपटा जाए। निपटने के इस सिलसिले में उन पर कील लगी लाठियों और पैलेट गन से हमले किए गए, साथ ही छात्राओं से दुर्व्यवहार भी, लेकिन आत्मविश्वासहीनता ऐसी कि उसे स्वीकार तक नहीं किया गया।

ऐसे में कौन कह सकता है कि लोकसभा में राहुल पर नादानी या लापरवाही की तोहमत चस्पां करने के लिए उनकी और बार-बार उछाला जाने वाला 'आप प्रतिपक्ष के नेता हैं... 'का जुमला इस सरकार के कुछ काम आ सकेगा। एक कहावत के शब्द उधार लेकर कहें तो उसके वे दिन हवा हो चुके हैं, जब खलील खां फाख्ते उड़ाया करते थे। आखिरकार तो जाति जनगणना का मामला हो, संविधान की रक्षा का, आरक्षण का या कोई अन्य मुद्दा, अंततः उसे अपनी अकड़ छोड़कर राहुल की बात मान लेनी पड़ती है। चहेते उद्योगपतियों को बेजा लाभ पहुंचाने के उनके आरोप के समक्ष भी अब उसकी कोई सफाई काम नहीं आती। बकौल लाला माधवराम जौहर : अब इत्र भी मलो तो तकल्लुफ़ की बू कहां? वो दिन हवा हुए जब पसीना गुलाब था! ■

कृत्रिम मेधा और सृजनात्मकता का संकट

कृत्रिम मेधा वह शक्तिशाली साधन है, जिसका प्रभाव इस पर निर्भर करेगा कि उसका उपयोग कौन और क्यों कर रहा है

शैलेंद्र चौहान

कृत्रिम मेधा (Artificial Intelligence) ने हमारे समय में जितनी तीव्र बहसें उत्पन्न की हैं, उतनी शायद ही किसी दूसरी तकनीक ने की हों। एक ओर इसे मानव सभ्यता की सबसे बड़ी तकनीकी उपलब्धियों में गिना जा रहा है, दूसरी ओर इसे मनुष्य की बौद्धिक स्वतंत्रता और सृजनात्मकता के लिए सबसे बड़े संकट के रूप में भी देखा जा रहा है। हर क्षेत्र में यह प्रश्न उपस्थित है कि जब मशीनें लिखने, चित्र बनाने, संगीत रचने और संवाद करने लगी हैं, तब मनुष्य की सृजनात्मकता का भविष्य क्या होगा? इससे भी बड़ा प्रश्न यह है कि यदि किसी लेखक, कलाकार या चिंतक की रचनात्मक ऊर्जा मंद पड़ गई है, तो क्या कृत्रिम मेधा उसके लिए पुनर्जीवन का माध्यम बन सकती है?

इसे समझने के लिए सृजन की प्रकृति, तकनीक के इतिहास और मनुष्य की मानसिक संरचना को साथ-साथ देखना होगा। इतिहास साक्षी है कि जब भी कोई नई तकनीक आई, उसके साथ आशंकाएं भी आईं। मुद्रण मशीन के आविष्कार के समय कहा गया कि पुस्तकें हाथ से लिखी पांडुलिपियों की गरिमा नष्ट कर देंगी। टाइपराइटर आया तो लगा कि हस्तलिपि की आत्मीयता समाप्त हो जाएगी। कंप्यूटर आया तो कहा गया कि मनुष्य की स्मृति कमजोर हो जाएगी। इंटरनेट के प्रसार पर यह चिंता व्यक्त की गई कि पुस्तकें अप्रासंगिक हो जाएंगी। लेकिन इन सभी तकनीकों ने अंततः अभिव्यक्ति के नए रास्ते खोले। उन्होंने मनुष्य की रचनात्मकता का अंत नहीं किया, बल्कि उसके रूप बदल दिए।

कृत्रिम मेधा इन सबसे अलग है क्योंकि वह केवल एक उपकरण नहीं है। वह भाषा का अनुकरण करती है, शैली की नकल करती है, संदर्भों को जोड़ती है और ऐसे उत्तर तैयार करती है जो पहली दृष्टि में मनुष्य द्वारा लिखे गए प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि साहित्यकार, शिक्षक, शोधकर्ता और पत्रकार सबसे अधिक असहज दिखाई देते हैं। उन्हें लगता है कि वर्षों की साधना से अर्जित लेखन-कौशल अब कुछ क्षणों में मशीन द्वारा दोहराया जा सकता है।

लेकिन यहां एक मूलभूत अंतर को समझना आवश्यक है। लेखन और सृजन एक ही बात नहीं हैं। शब्दों का संयोजन सृजन नहीं है। भाषा का प्रवाह भी सृजन नहीं है। सृजन वहां आरंभ होता है जहां अनुभव कल्पना से मिलता है और संवेदना विचार का रूप ग्रहण करती है। किसी कविता, कहानी या उपन्यास का जन्म केवल शब्दों से नहीं होता। उसके पीछे जीवन के असंख्य अनुभव, स्मृतियां, संघर्ष, पराजय, प्रेम, अकेलापन, आशा और प्रतिरोध काम करते हैं। यही वह क्षेत्र है जहां कृत्रिम मेधा अभी भी मनुष्य का विकल्प नहीं बन सकती।

कृत्रिम मेधा के पास विशाल सूचना-संग्रह है, पर उसके पास अपना कोई बचपन नहीं, कोई स्मृति नहीं, कोई निजी पीड़ा नहीं। उसने कभी भूख नहीं देखी, विस्थापन नहीं झेला, प्रेम में असफल नहीं हुई, किसी प्रियजन की मृत्यु का शोक नहीं भोगा, किसी सामाजिक अन्याय के विरुद्ध जोखिम उठाकर संघर्ष नहीं किया। वह उपलब्ध सामग्री के आधार पर संभावित भाषा निर्मित करती है। इसीलिए उसका लेखन प्रायः सुव्यवस्थित, व्याकरण-संपन्न और प्रभावशाली होता है, पर उसमें वह ताप नहीं होता जो मनुष्य के जीवित अनुभव से पैदा होता है।

फिर भी यह कहना कि कृत्रिम मेधा केवल सृजनात्मकता का विनाश करेगी, वास्तविकता का सरलीकरण होगा। साहित्य का इतिहास बताता है कि लगभग हर लेखक ऐसे दौर से गुजरता है जब उसकी रचनात्मकता जैसे ठहर जाती है। अंग्रेज़ी में इसे ₹राइटर्स ब्लॉक₹ कहा जाता है। हिन्दी में इसे सृजनात्मक अवरोध कहा जा सकता है। यह केवल नए लेखकों की समस्या नहीं है। विश्व साहित्य के अनेक बड़े रचनाकारों ने लंबे मौन के काल देखे हैं।

इसके कारण अनेक हो सकते हैं। मानसिक थकान, सामाजिक अलगाव, आर्थिक दबाव, पारिवारिक तनाव, आत्मविश्वास का ह्रास, जीवनानुभवों की पुनरावृत्ति, बीमारी, बढ़ती आयु अथवा यह अनुभूति कि जो कहना था वह पहले ही कहा जा चुका है। कई बार लेखक अपनी ही उपलब्धियों का बंदी बन जाता है। उसे लगता है कि वह अपने पूर्व लेखन से आगे नहीं जा पा रहा। यह स्थिति अत्यंत पीड़ादायक होती है।

ऐसे समय में कृत्रिम मेधा प्रतिद्वंद्वी नहीं, सहयोगी बन सकती है।

यदि लेखक के भीतर विचार हैं, लेकिन उन्हें व्यवस्थित करने की शक्ति क्षीण हो गई है, तो कृत्रिम मेधा प्रारूप तैयार करने, सामग्री एकत्र करने, संदर्भों का संकेत देने, वैकल्पिक संरचनाएं सुझाने, भाषा को संवारने और तर्कों को क्रमबद्ध करने में उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

लेकिन यही वह बिंदु है जहां सबसे बड़ा खतरा भी छिपा हुआ है। यदि लेखक एआई को सहयोगी के स्थान पर अपना प्रतिस्थापक बना देता है, तो धीरे-धीरे उसकी मौलिकता क्षीण होने लगेगी। ऐसी स्थिति में भाषा भले ही सुंदर रहे, लेकिन उसके भीतर जीवन का स्पंदन समाप्त हो जाएगा। साहित्य की सबसे बड़ी शक्ति उसकी प्रामाणिकता है। यदि रचनाएं केवल सांख्यिकीय संभावनाओं पर आधारित भाषा-निर्माण बनकर रह जाएंगी, तो वे सूचना तो देंगी, पर मनुष्य के भीतर परिवर्तन की प्रक्रिया नहीं जगा पाएंगी।

कृत्रिम मेधा का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि वह अभिव्यक्ति के लोकतंत्रीकरण में सहायक हो सकती है। अनेक लोगों के पास विचार तो होते हैं, लेकिन भाषा पर पर्याप्त अधिकार नहीं होता। कई लोग शारीरिक अक्षमता, दृष्टिबाधा या भाषाई कठिनाइयों के कारण अपनी बात प्रभावी ढंग से नहीं लिख पाते। एआई उनके लिए सहायक उपकरण बन सकती है। इससे साहित्य और ज्ञान की दुनिया में ऐसे अनेक नए स्वर शामिल हो सकते हैं जिन्हें पहले अवसर नहीं मिल पाता था।

आने वाले समय में साहित्य के सामने एक नया नैतिक प्रश्न भी खड़ा होगा। पाठक केवल यह नहीं पूछेगा कि रचना अच्छी है या नहीं, बल्कि यह भी जानना चाहेगा कि उसमें लेखक का वास्तविक योगदान कितना है। अंततः प्रश्न कृत्रिम मेधा का नहीं, मनुष्य का है। यदि मनुष्य अपनी संवेदना, जिज्ञासा और सामाजिक प्रतिबद्धता को जीवित रखता है, तो कोई मशीन उसकी सृजनात्मकता का स्थान नहीं ले सकती। यदि वह स्वयं अनुभव करना छोड़ देता है, तो उसकी रचनात्मकता बिना एआई के भी क्षीण हो जाएगी।

कृत्रिम मेधा वास्तव में लेखक के सामने एक चुनौती रखती है। वह उससे पूछती है कि तुम्हारे पास ऐसा क्या है जो किसी एल्गोरिद्म के पास कभी नहीं हो सकता? इसका उत्तर भाषा नहीं है, क्योंकि भाषा का अनुकरण संभव है। उत्तर शैली भी नहीं है, क्योंकि शैली की नकल की जा सकती है। उत्तर है—जीवन का अर्जित अनुभव, नैतिक विवेक, कल्पना की स्वतंत्र उड़ान, मानवीय करुणा, सामाजिक उत्तरदायित्व और भविष्य का स्वप्न देखने की क्षमता। यही वे तत्व हैं जो किसी महान रचना को जन्म देते हैं।

इसलिए कृत्रिम मेधा को भय या उत्साह—दोनों अतियों से बचकर देखना चाहिए। न वह साहित्य की शत्रु है, न उद्धारक। वह एक शक्तिशाली साधन है, जिसका प्रभाव इस बात पर निर्भर करेगा कि उसका उपयोग कौन और किस उद्देश्य से कर रहा है। एक सजग लेखक के हाथों में वह अध्ययन, अनुसंधान, संपादन और पुनर्विचार का प्रभावी माध्यम बन सकती है। किंतु आलसी लेखक के हाथों में वही साधन मौलिकता के क्षरण का कारण भी बन सकता है।

जिन लेखकों की सृजनात्मकता मंद पड़ गई है, उनके लिए कृत्रिम मेधा पुनर्जीवन का उपयोगी माध्यम बन सकती है, परंतु पुनर्जीवन का वास्तविक स्रोत आज भी वही है जो सदियों से रहा है—जीवन का गहरा साक्षात्कार, निरंतर अध्ययन, आत्मसंघर्ष, समाज के प्रति उत्तरदायित्व और मनुष्य के प्रति अटूट संवेदना। कृत्रिम मेधा लेखक को फिर से लिखने की प्रेरणा दे सकती है, उसके विचारों को व्यवस्थित कर सकती है और उसके बौद्धिक क्षितिज का विस्तार कर सकती है, किंतु किसी रचना में प्राण फूंकने का कार्य आज भी केवल मनुष्य का जीवित अनुभव ही कर सकता है। यही अनुभव साहित्य को साहित्य बनाता है और यही वह क्षेत्र है जहां मनुष्य की सृजनात्मकता अब भी अद्वितीय, अपरिवर्तनीय और अपराजेय है। ■

> यदि मनुष्य अपनी संवेदना, जिज्ञासा और सामाजिक प्रतिबद्धता को जीवित रखता है, तो कोई मशीन उसकी सृजनात्मकता का स्थान नहीं ले सकती। यदि वह जीवन से कट जाता है, तो उसकी रचनात्मकता बिना एआई के भी क्षीण हो जाएगी

Published Date 09 August, 2026 (Sunday), Posted at LPC Delhi RMS, Delhi-06, Posting Days Friday and Saturday

किताबों से क्यों डरती है पुलिस?

जंतर-मंतर पर हुए रचनात्मक विरोध-प्रदर्शन के बीच छात्रों द्वारा छात्रों के लिए शुरू की गई चलती-फिरती लाइब्रेरी अनुकरणीय पहल थी

पार्थ एम एन

एक महीने के भीतर पुलिस ने इस लाइब्रेरी को तीन बार बंद कराने की कोशिश की, लेकिन वह हर बार फिर से लौट आई।

एक मीम पेज के रूप में शुरू होकर युवाओं के आंदोलन में बदल जाने वाली कॉकरोच जनता पार्टी के जंतर-मंतर आंदोलन के दौरान हो रहे धरने के बीच ऑल इंडिया स्टूडेंट्स फेडरेशन (एआईएसएफ) ने वहां एक लाइब्रेरी शुरू करने का फैसला किया। इसके पीछे का उद्देश्य बिल्कुल साफ था।

एआईएसएफ के राष्ट्रीय अध्यक्ष विराज देवांग ने बताया, "प्रदर्शनकारियों के लिए जंतर-मंतर अगले कुछ दिनों तक उनका घर बनने वाला था। दिन भर नारे लगते हैं, भाषण सुनते हैं, लेकिन उसके बाद काफी समय खुद के पास बचा होता है। ऐसे समय में किताबें सबसे अच्छी साथी होती हैं। हमारा विचार था कि प्रदर्शनकारी और छात्र साहित्य पढ़ें और अपनी सामाजिक तथा राजनीतिक चेतना को और समृद्ध करें।"

छात्र कार्यकर्ता एक लकड़ी की मेज लेकर आए, जिस पर लाल कपड़ा बिछाया गया था। उस पर लिखा था - 'प्रधान मस्ट फॉल (प्रधान को हटना होगा)।' रोजाना लाइब्रेरी संभालने वाले 20 वर्षीय छात्र कार्यकर्ता मोहित ने बताया, "पहले दिन हमारे पास छत्रपति शिवाजी महाराज, भगत सिंह और बाबासाहेब आम्बेडकर पर किताबें थीं। क्रांतिकारी साहित्य के बिना कोई आंदोलन वैसा ही है जैसे विचारधारा के बिना कोई नेता। साहित्य ही प्रदर्शनकारियों को प्रतिरोध और विद्रोह का रास्ता दिखाता है।" इसके अलावा, लाइब्रेरी में प्रेमचंद की रचनाएं, बाल साहित्य और वैज्ञानिकों की आत्मकथाएं भी थीं। मोहित ने कहा, "हमारे समाज में वैज्ञानिक सोच लगातार कमजोर होती जा रही है, इसलिए हमने सोचा कि इस विषय की किताबें भी यहां होनी चाहिए।"

लेकिन एआईएसएफ द्वारा लाइब्रेरी शुरू करते ही दिल्ली पुलिस के अधिकारियों ने इस पर आपत्ति जताई और कहा कि यह अवैध है। देवांग ने बताया, "हमने उनसे कहा कि यह एक खुली लाइब्रेरी है, इसका कोई व्यावसायिक पक्ष नहीं है। थोड़ी बहस के बाद पुलिस लौट गई।" लेकिन यह आखिरी बार नहीं था, जब पुलिस ने लाइब्रेरी को निशाना बनाया।

अगले 10-12 दिनों में धरना-स्थल पर आने वाले समर्थक लगातार किताबें दान करते रहे। किताबों का ढेर बढ़ता गया और उसके बगल में रखा रजिस्टर भी नई प्रविष्टियों से भरने लगा। लेकिन 2 जुलाई को पुलिस फिर आ धमकी। इस बार उनका कहना था कि "इससे भगदड़ मच सकती है और लोगों को इससे परेशानी हो रही है" देवांग ने याद करते हुए कहा। "लेकिन प्रदर्शनकारी तुरंत इकट्ठा हो गए और उन्होंने कहा कि ऐसा बिल्कुल नहीं है।"

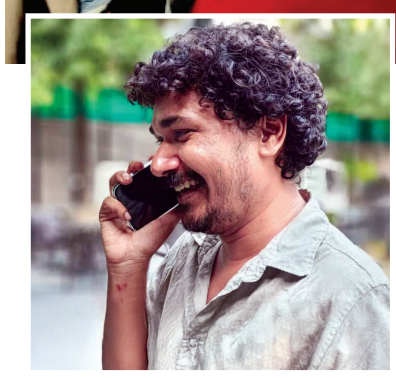

जंतर-मंतर पर एआईएसएफ कार्यकर्ताओं ने किताब प्रेमियों के लिए चलती-फिरती लाइब्रेरी ही खड़ी कर दी। (इनसेट) एआईएसएफ के राष्ट्रीय अध्यक्ष विराज देवांग

लाइब्रेरी में आंदोलन समर्थकों द्वारा दान की गई किताबें। ये पुस्तकें वैज्ञानिक दृष्टिकोण को बढ़ावा देने वाली हैं

विशाल (20), जो मोहित की तरह केवल अपना पहला नाम इस्तेमाल करते हैं, उस समय लाइब्रेरी की जिम्मेदारी संभाल रहे थे। उन्होंने कहा, "पुलिस को इससे समस्या हो सकती है, लेकिन यह लाइब्रेरी लोगों के लिए है। हमने इसे हटाने से साफ इंकार कर दिया।"

हालांकि, इस बार बहस के बाद दिल्ली पुलिस पीछे हटने वाली नहीं थी। एक पुलिस अधिकारी ने तिरस्कारपूर्ण लहजे में विशाल से कहा, "बहुत नेता बन रहे हो," और उसे हिरासत में ले लिया। विशाल के साथी बिट्टू को भी इसलिए कॉलर पकड़कर घसीटा गया, क्योंकि वह अपने मोबाइल फोन से पूरी घटना रिकॉर्ड कर रहा था।

देवांग ने कहा, "पुलिस ने भगत सिंह, शिवाजी महाराज और बाबासाहेब आम्बेडकर की किताबों का अपमान किया है। हमारे राष्ट्रीय नायकों का अपमान करने के लिए उन्हें माफी मांगनी चाहिए।"

इन किताबों में शिवाजी कौन थे भी शामिल थी, जो गोविंद पानसरे की मराठी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद है। गोविंद पानसरे की हिंदुत्ववादी उग्रवादियों ने हत्या कर दी थी। इसके अलावा, भगत सिंह बनाम आरएसएस, जिसमें क्रांतिकारी नेता भगत सिंह और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के वैचारिक मतभेदों का विश्लेषण किया गया है, तथा डॉ. बी. आर. आम्बेडकर की संकलित रचनाएं भी वहां मौजूद थीं।

मोहित ने कहा, "हमारा विश्वास है कि अगर एक भी व्यक्ति ऐसी कोई किताब पढ़ ले, तो वह उसके बारे में दस और लोगों को बताएगा। बदलाव इसी तरह धीरे-धीरे, कदम-दर-कदम आता है।"

> मोहित ने कहा, "हमारा विश्वास है कि अगर एक भी व्यक्ति ऐसी कोई किताब पढ़ ले, तो वह उसके बारे में दस और लोगों को बताएगा। बदलाव इसी तरह धीरे-धीरे आता है"

लेकिन विशाल और बिट्टू का कहना है कि हिरासत में लेने, गालियां देने और मारपीट करने के बाद पुलिस ने उन्हें एक लंबे अदालती मुकदमे में फंसाने की धमकी भी दी। बाद में, जब एआईएसएफ के उनके साथी थाने पहुंचे और उनकी हिरासत के खिलाफ जोरदार विरोध किया, तब जाकर दोनों को रिहा किया गया। विशाल ने कहा, "मुझे पुलिस से डर नहीं लगा था। मुझे डर इस बात का था कि कहीं मेरे माता-पिता को इसका पता न चल जाए।"

प्रदर्शन के दौरान विद्यार्थियों, समर्थकों और शुभचिंतकों द्वारा लगातार किताबें दान किए जाने से पुस्तकालय का संग्रह निरंतर बढ़ता गया। विशाल, राजस्थान के एक छोटे-से गांव से आते हैं। उनके पिता किसान हैं और मां गृहिणी। उन्हें यह तक नहीं मालूम कि उनका बेटा छात्र आंदोलन से जुड़ा हुआ है। विशाल ने कहा, "अगर उन्हें पता चल गया, तो शायद वे मुझे दिल्ली में रहने ही न दें।"

फिर भी, जब वे दोबारा प्रदर्शन-स्थल पर लौटे, तो सबसे पहले उन्होंने पुस्तकालय को फिर से सजा दिया। एआईएसएफ ने किताबें वापस जुटाईं और पुस्तकालय फिर से चल पड़ा। अगले कुछ दिनों में रजिस्टर में 1,500 नई प्रविष्टियां दर्ज हो गईं।

बीस 20 जुलाई को कॉकरोच जनता पार्टी ने ऑल इंडिया स्टूडेंट्स असोसिएशन (आइसा) और एआईएसएफ जैसे छात्र संगठनों के साथ मिलकर संसद तक शांतिपूर्ण मार्च का आह्वान किया। इससे पहले लगातार 25 दिनों तक लद्दाख के पर्यावरण कार्यकर्ता सोनम वांगचुक और छात्र कार्यकर्ता नेहा बोरा, मनीष कुमार तथा आमीन अमितोज जंतर-मंतर पर उसी मांग को लेकर अनशन पर बैठे रहे थे। उन्होंने परीक्षाओं और सरकारी भर्तियों में जवाबदेही और पारदर्शिता सुनिश्चित करने की मांग की।

हजारों-हजार लोग- जिनमें अधिकांश युवा थे, भारी पुलिस और सुरक्षा व्यवस्था के बीच जंतर-मंतर की सड़कों पर उमड़ पड़े। दिन चढ़ने के साथ नारों की गूंज की जगह आंसू गैस के गोलों की सिसकारी और शांतिपूर्ण प्रदर्शनकारियों पर हुए लाठीचार्ज की चीख-पुकार ने ले ली। अनेक लोगों के सिर बुरी तरह फट गए और उनसे खून बहने लगा। युवा महिलाओं के कपड़े तक फाड़ दिए गए। नाबालिग छात्र भी नहीं बख्शे गए. कम-से-कम तीन छात्रों पर पैलेट गन से गोली चलाई गई- जो कश्मीर में तमाम लोगों की आंखों की रोशनी छीन लेने के लिए कुख्यात रही है।

इस पूरी कार्रवाई में पुस्तकालय भी पूरी तरह तहस-नहस कर दिया गया। विशाल ने बताया, "पुलिस ने मेज और किताबें उठाकर फेंक दीं। ऊपर लगा तिरपाल फाड़ दिया गया। हमने उसे पोस्टरों और बैनरों से सजाया था, वे भी नष्ट कर दिए गए। वहां देखकर कोई यह नहीं कह सकता था कि यहां कभी कोई पुस्तकालय था।"

लेकिन तमाम चोटों, तबाही और इस निर्मम दमन के बावजूद प्रदर्शनकारी फिर जंतर-मंतर लौटे और उन्होंने दोबारा उस जगह पर अपना कब्जा जमा लिया। उसी रात विशाल फिर उसी स्थान पर मेज पर किताबें सजाने में व्यस्त थे। इस बार किताबों की संख्या पहले जितनी नहीं थी, लेकिन उनका यह काम अपने आप में प्रतिरोध का एक बयान था। उन्होंने उस रात कहा, "जब तक प्रदर्शनकारी यहां रहेंगे, यह पुस्तकालय भी यहीं रहेगा," और अंततः ऐसा ही हुआ।

पांच दिन बाद, 25 जुलाई को बढ़ते जनदबाव के बीच धर्मेंद्र प्रधान का इस्तीफा और छात्र कार्यकर्ताओं और प्रदर्शनकारियों ने इसे अपनी जीत के रूप में मनाया। एआईएसएफ के कार्यकर्ताओं ने चुपचाप पुस्तकालय समेट लिया और बची हुई किताबें अपने साथियों में बांट दीं।

देवांग ने आखिर में सवाल किया, "आखिर किताबों से कोई क्यों डरेगा? किताबों से डरना कायरता की निशानी है।" ■

साभार: ruralindiaonline.org

नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम

वेस्टर्न एक्सप्रेसवे पर मुंबई के हृदयस्थल में, बीकेसी से सटे, एयरपोर्ट के पास

इन सबके लिए सर्वोत्तमः
- कॉरपोरेट/एचआर मीटिंग, सेमिनार या ट्रेनिंग सेशंस
- व्याख्यान
- बुक लॉन्च/ बुक रीडिंग
- पैनल डिस्कशन
- साहित्यिक/सांस्कृतिक कार्यक्रम

ऑडिटोरियम उपलब्ध है
-पूरा दिन सुबह 10 बजे से शाम 8 बजे
-आधा दिन सुबह 10 बजे से दोपहर 2 बजे या शाम 4 बजे से शाम 8 बजे

बुकिंग के लिए कृपया संपर्क करें: +91 22-26470102, 8482925258
या हमें लिखें: contact@nehrucentre.com
नेहरू सेंटर ऑडिटोरियम, दूसरा फ्लोर, एजेएल हाउस, 608/1ए, प्लॉट नं. 2, एस. नं. 341, पीएफ ऑफिस के पास, बांद्रा, मुंबई- 400051